# राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिल भारतीय तथा विशेषतः राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषानिबद्ध
विविध वाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट ग्रन्थावलि




ग्रन्थाङ्क ५६

समीक्षाचक्रवर्ति–विद्यावाचस्पति–महामहोपदेशक–
स्वर्गीय–पंडितप्रवर श्रीमधुसूदनओझा–विरचितं

# महर्षिकुलवैभवम्

( मूलमात्रम् )


प्रकाशक

राजस्थान राज्याज्ञानुसार

सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

॥ श्रीः ॥

समीक्षाचक्रवर्ति – विद्यावाचस्पति – महामहोपदेशक-

स्वर्गीय पण्डितप्रवर – श्रीमधुसूदन ओझा – विरचितम्

( ब्रह्मविज्ञानविभागे – दिव्यविभूतौ )

# महर्षिकुलवैभवम्

## हिन्दी-भाषानुवादरूपसारांश-सहितम्

( मूलमात्रम् )



तदिदम्

तदात्मजेन विद्याविनोद–विद्यारत्न-

पं० श्रीप्रद्युम्नशर्म्मणा सम्पादितमनूदितञ्च



प्रकाशक

राजस्थान–राज्याज्ञानुसार

राजस्थान-प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान

( Rajasthan Oriental Research Institute )

जोधपुर ( राजस्थान )

---

विक्रमाब्द २०१८ ] प्रथमावृत्तिः १००० * मूल्यम् ५० [ ख्रिस्ताब्द १९६१

६) २

# राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

## जोधपुर

## ( Rajasthan Oriental Research Institute )

## JODHPUR.

### उद्देश्य

१. राजस्थान में और अन्यत्र भारतीय संस्कृति के आधारभूत संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी व अन्य भाषाओं में लिखित प्राचीन ग्रन्थ की खोज करना तथा उन्हें प्रकाश में लाना।

२. प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह कर उनके संरक्षण की व्यवस्था करना और उपयोगी ग्रन्थों को सम्बन्धित विद्वानों से सम्पादित करा कर उनके प्रकाशन की व्यवस्था करना।

३. साधारणतः भारतीय एवं मुख्यतः संस्कृत व प्राचीन राजस्थानी के अध्ययन, अन्वेषण, संशोधन हेतु अत्यावश्यक उत्तम प्रकार का सन्दर्भ-पुस्तक-भण्डार (मुद्रित ग्रन्थालय) स्थापित करना और उसमें देश-विदेश में मुद्रित विविध विषयक अलभ्य-दुर्लभ्य सभी ग्रन्थों का यथासम्भव संग्रह करना।

४. संगृहीत सामग्री से शोधकर्त्ता अध्येता विद्वानों को उनके अध्ययन और अनुसंधान में सहायता पहुंचाना।

५. राजस्थान के लोक-जीवन पर प्रकाश डालने वाले विविध विषयक लोक-गीत, सांप्रदायिक भजन, पदादिक भक्ति साहित्य एवं सामाजिक संस्कार धार्मिक व्यवहार तथा लौकिक आचार-विचार आदि से सम्बन्धित सभी प्रकार की सामग्री की शोध, संग्रह, संरक्षण, एवं प्रकाशन करने की व्यवस्था करना।

---

# सञ्चालकीय वक्तव्य

समीक्षाचक्रवर्ति, वैदिकविज्ञानमार्तण्ड, विद्यावाचस्पति, महामहोपदेशक इत्यादि उपाधियों से विभूषित स्वर्गीय पण्डितप्रवर श्रीमधुसूदनओझा विरचित महर्षिकुलवैभवम् के प्रथम भाग का प्रकाशन राजस्थान ग्रन्थमाला के अन्तर्गत ग्रन्थाङ्क ६ में किया जा चुका है जिसकी संस्कृत व्याख्या और हिन्दी भाषाटीका महामहोपाध्याय पं० श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने की है।

उक्त प्रथम भाग के प्रकाशन के थोड़े समय पश्चात् स्वर्गीय ओझाजी के सुपुत्र पं० श्री प्रद्युम्नजी शर्मा हमारे पास महर्षिकुलवैभवम् की मूल प्रति लेकर आये और बताया कि इस ग्रन्थ की मूल पुस्तक जो उनके पिताजी ने लिखी थी उसमें और राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान से प्रकाशित पूर्व पुस्तक में कुछ क्रम-परिवर्तन हो गया है। उन्होंने यह इच्छा भी व्यक्त की कि स्व० ओझाजी की लिखी पुस्तक का यथावत् प्रकाशन उनके सम्पादन में हो। अतएव पं० श्री प्रद्युम्नजी के अनुरोध को दृष्टि में रखते हुए हमने मूललेखक की पुस्तक को यथावत् प्रकाशित करना स्वीकार कर लिया। राजस्थान सरकार द्वारा संस्थापित संस्कृत सलाहकार मण्डल ने भी अपने एक प्रस्ताव में स्व० ओझाजी के ग्रन्थों का प्रकाशन राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान द्वारा किये जाने की सिफारिश की है।

प्रस्तुत पुस्तक के इस आवृत्ति प्रकाशन से यह प्रयत्न आपाततः अनवीकृत-सा प्रतीत होता है किन्तु वास्तविक स्थिति इस सम्भावना से विपरीत है क्योंकि इस सम्पादन में पंडितवर श्री प्रद्युम्नजी ओझा ने पुस्तक के मूल लेखक के अपत्याधिकार से जो विसर्गवैशिष्ट्य अर्जितकर उसका भावनात्मक सम्पुट देते हुए इस दुरूह वैदिक विषय को सारांशरूपेण हिन्दी में उपन्यस्त कर दिया है, इससे यह प्रयास पुनर्नवीकृत ही हो उठा है। विद्वान् सम्पादक के अपने "वक्तव्य" ने भी इसे अधिक विशद, उदात्त और उपयोगी बना दिया है।

आशा है कि विद्वानों को इस प्रकाशन से लाभ पहुँचेगा।

मुनि जिनविजय

सम्मान्य सञ्चालक

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान,

जोधपुर (राज.)

# राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक—पद्मश्री मुनि जिनविजय, पुरातत्त्वाचार्य

## प्रकाशित ग्रन्थ

### १. संस्कृत

१. **प्रमाणमंजरी**, तार्किकचूड़ामणि सर्वदेवाचार्यकृत, सम्पादक–मीमांसान्यायकेसरी पं. पट्टाभिरामशास्त्री, विद्यासागर। मूल्य ६·००

२. **यन्त्रराजरचना**, महाराजा सवाई जयसिंह-कारित। सम्पादक–स्व. पं. केदारनाथ ज्योतिर्विद्, जयपुर। मूल्य-१·७५

३. **महर्षिकुलवैभवम्**, (व्याख्या सहितम्) स्व. पं. मधुसूदनओझाप्रणीत, सम्पादक–म. म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी। मूल्य १०·७५

४. **महर्षिकुलवैभवम्**, (मूलमात्रम्-हिन्दी भाषासारांश-सहितम्) सम्पादक एवं हिन्दी भाषासारांश लेखक ग्रन्थकर्तात्मज वि. वि. पं० प्रद्युम्नशर्माओझा। मू० ३·५०

५. **तर्कसंग्रह**, अन्नंभट्टकृत, सम्पादक–डॉ. जितेन्द्र जेटली, एम. ए., पी-एच. डी., मूल्य ३·००

६. **कारकसंबंधोद्योत**, पं. रभसनन्दीकृत, सम्पादक–डॉ. हरिप्रसाद शास्त्री एम.ए., पी-एच. डी.। मूल्य १·७५

७. **वृत्तिदीपिका**, मौनिकृष्णभट्टकृत, सम्पादक–स्व. पं. पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी, साहित्याचार्य। मूल्य २·००

८. **शब्दरत्नप्रदीप**, अज्ञातकर्तृक, सम्पादक–डॉ. हरिप्रसाद शास्त्री, एम.ए, पी-एच डी.। मूल्य २·००

९. **कृष्णगीति**, कवि सोमनाथविरचित, सम्पादिका–डॉ. प्रियबाला शाह, एम. ए. पी-एच. डी, डी. लिट्। मूल्य १·७५

१०. **नृत्तसंग्रह**, अज्ञातकर्तृक, सम्पादिका–डॉ. प्रियबाला शाह, एम.ए., पी-एच.डी., डी. लिट्। मूल्य १·७५

११. **शृङ्गारहारावली**, श्रीहर्षकविरचित, सम्पादिका–डा. प्रियबाला शाह, एम. ए., पी-एच. डी., डी.लिट्। मूल्य २·७५

१२. **राजविनोद महाकाव्य**, महाकविउदयराजप्रणीत, सम्पादक–पं. श्रीगोपालनारायण बहुरा, एम. ए., उपसञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर मूल्य २·२५

१३. **चक्रपाणिविजय महाकाव्य**, भट्टलक्ष्मीधरविरचित, सम्पादक–केशवराम, काशीराम शास्त्री। मूल्य ३·५०

१४. **नृत्यरत्नकोश (प्रथम भाग)**, महाराणा कुम्भकर्णकृत, सम्पादक–रसिकलाल छोटालाल परिख तथा डॉ. प्रियबाला शाह, एम.ए., पी-एच.डी., डी.लिट मूल्य ३·७५

१५. **उक्तिरत्नाकर**, साधु सुन्दरगणिविरचित, सम्पादक-पुरातत्त्वाचार्य श्रीजिनविजयमुनि, सम्मान्य सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर। मूल्य ४·७५

१६. **दुर्गापुष्पाञ्जलि**, म. म. पं. दुर्गाप्रसादद्विवेदीकृत, सम्पादक—पं. श्रीगंगाधर द्विवेदी, साहित्याचार्य। मूल्य ४·२५

१७. **कर्णकुतूहल**, महाकवि भोलानाथविरचित, सम्पादक—पं. श्रीगोपालनारायण बहुरा, एम. ए., उप-सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर। इन्हीं कविवर की अपरकृति श्रीकृष्णलीलामृतसहित। मूल्य १.५०

१८. **ईश्वरविलासमहाकाव्यम्**, कविकलानिधि श्रीकृष्णभट्टविरचित, सम्पादक-भट्ट श्रीमथुरानाथ शास्त्री, साहित्याचार्य, जयपुर। मूल्य ११·५०

१९. **रसदीर्घिका**, कविविद्यारामप्रणीत, सम्पादक—पं. श्रीगोपालनारायण बहुरा, उप-सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर। मूल्य २·००

२०. **पद्यमुक्तावली**, कविकलानिधि श्रीकृष्णभट्टविरचित, सम्पादक—भट्ट श्रीमथुरानाथ शास्त्री, साहित्याचार्य। मूल्य ४·००

२१. **काव्यप्रकाशसंकेत, भाग१** भट्टसोमेश्वरकृत, सम्पादक—श्रीरसिकलाल छो. परीख, मूल्य १२·००

२२. ,, भाग २ ,, ,, मूल्य ८·२५

२३. **वस्तुरत्नकोष**, अज्ञातकर्तृक, सम्पादक—डॉ. प्रियबाला शाह। मूल्य ४.००

२४. **दशकण्ठवधम्** पं. दुर्गाप्रसादद्विवेदीकृत, सम्पादक—पं. श्रीगंगाधर द्विवेदी। मूल्य ४·००

२५. **श्री भुवनेश्वरीमहास्तोत्रम्**, सभाष्य, पृथ्वीधराचार्यविरचित, कवि पद्मनाभकृत, भाष्यसहित पूजापञ्चाङ्गादिसंवलित। सम्पादक—पं. श्रीगोपालनारायण बहुरा। मूल्य ३.७५

२६. **रत्नपरिक्षादी सप्त-ग्रन्थ-संग्रह**, ठक्कुर फेरू कृत, सम्पादक—पद्मश्री मुनि जिनविजयजी अगरचन्द नाहटा और भंवरलालजी नाहटा। मूल्य ६·२५

## राजस्थानी और हिन्दी

२७. **कान्हडदेप्रबन्ध**, महाकवि पद्मनाभविरचित, सम्पादक—प्रो.के.बी.व्यास, एम.ए., मूल्य १२·२५

२८. **क्यामखां-रासा**, कविवर जान-रचित, सम्पादक—डॉ. दशरथ शर्मा और श्री अगरचन्द नाहटा। मूल्य ४·७५

२९. **लावा-रासा**, चारण कविया गोपालदानविरचित, सम्पादक—महताबचन्द खारैड़। मूल्य ३·७५

३०. वांकीदासरी ख्यात, कविवर बांकीदासरचित, सम्पादक–श्री नरोत्तमदास स्वामी, एम. ए., मूल्य ५.५०

३१. राजस्थानी साहित्य संग्रह, भाग १, सम्पादक–श्री नरोत्तमदास स्वामी, एम.ए. मूल्य २.२५

३२. राजस्थानी साहित्यसंग्रह भाग २, सम्पादक–पुरुषोत्तमलाल मेनारिया एम.ए., साहित्यरत्न । मूल्य २.७५

३३. कवीन्द्र कल्पलता, कवीन्द्राचार्य सरस्वती विरचित, सम्पादिका–श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत । मूल्य २.००

३४. जुगल विलास, महाराज पृथ्वीसिंहकृत, सम्पादिका–श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत । मूल्य १.७५

३५. भगतमाल, ब्रह्मदासजी चारणकृत सम्पादक–श्री उदयराज उज्ज्वल । मूल्य १.७५

३६. राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिर के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची भाग १ । मूल्य ७.५०

३७. राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची, भाग २ सम्पादक–श्री गोपालनारायण बहुरा एम. ए., उप सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर । मूल्य १२.००

३८. मुंहता नैणसीरी ख्यात, भाग १ मुंहता नैणसीकृत, सम्पादक–श्री बद्रीप्रसाद साकरिया । मूल्य–८.५०

३९. रघुवरजसप्रकास, किसनाजी आढ़ाकृत, सम्पादक–श्री सीताराम लालस । मूल्य ८.२५

४०. राजस्थानी हस्तलिखित ग्रन्थसूची, भाग १ सम्पादक–मुनि श्रीजिनविजय । मूल्य ४.५०

४१. राजस्थानी हस्तलिखित ग्रन्थसूची, भाग २ सम्पादक–श्री पुरुषोत्तमलाल मेनारिया एम. ए., साहित्यरत्न मूल्य २.७५

४२. वीरवांण, ढाढ़ी बादर कृत, सम्पादिका–श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारी, चूंडावत । मूल्य ४.५०

४३. स्व० पुरोहित हरिनारायणजी विद्याभूषण ग्रन्थ संग्रह सूची, सम्पादक–श्री गोपालनारायण बहुरा एम. ए. और श्री लक्ष्मीनारायण गोस्वामी दीक्षित । मूल्य ६.२५

४४. सूरजप्रकास, भाग १, कविया करणीदानजी कृत सम्पादक–श्री सीताराम लालस मूल्य ८.००

४५. नेहतरंग, रावराजा बुधसिंह कृत, सम्पादक श्री रामप्रसाद दाधीच एम. ए., मूल्य ४.००

# भूमिका

"राजस्थान पुरातन ग्रंथमाला" के अन्तर्गत कुछ वर्ष पूर्व "महर्षिकुलवैभवम्" पुस्तक का प्रकाशन हो चुका है। इसके सम्पादक तथा व्याख्याता म०म० पं० श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी हैं। श्रीयुत चतुर्वेदीजी ग्रन्थलेखक पूज्य पिताजी के पट्टशिष्य रहे हैं और जैसा कि उन्होंने अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है, लगभग चालीस वर्षों तक उनका किसी न किसी रूप में पाठ्यक्रम चालू रहा। अतः पूज्य पिताजी के ग्रन्थों के मर्म को समझकर व्याख्या करने की इतनी क्षमता किसी अन्य व्यक्ति में सहज नहीं है। विलक्षण-प्रतिभासम्पन्न श्री चतुर्वेदीजी ने जो व्याख्या लिखी है, उसकी विद्वज्जनों ने भूरि भूरि प्रशंसा की है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित वैदिकविज्ञान सर्वथा नवीन है और इसे हृदयंगम कराने की दृष्टि से ग्रन्थकार ने अनेक ग्रन्थों में प्रकरणवश कुछ बातों को स्पष्ट किया है। उदाहरणार्थ महर्षिकुलवैभव में ऋषिप्राणों के सम्बन्ध में बताये गये कुछ अंश प्रकरण के अनुरोध से आधिदैविकाध्याय में भी आये हैं जिसका प्रकाशन कई वर्ष पूर्व किया जा चुका है। आपाततः यह पुनरुक्ति जान पडती है परन्तु इसके बिना प्रकरण की सगति बैठना कठिन होता। अतएव यहां पुनरुक्तिदोष की स्थिति तो नहीं है, परन्तु पूर्व प्रकाशित ग्रन्थान्तर्गत व्याख्या में पाठ्यक्रम मूलग्रन्थ के अनुसार नहीं हैं। सम्भव है कि पाठकों के सौविध्य की दृष्टि से यह क्रम परिवर्तित किया गया हो। उदाहरण के लिये, व्याख्यावाले अश में प्रारम्भ में ही "अथ ऋषिनिर्वचनम" शीर्षक देकर "ऋषिशब्दस्य चतुष्टयी प्रवृत्तिः असल्लक्षणा, रोचनालक्षणा, द्रष्टृलक्षणा, वक्तृलक्षणा चेति।" इस प्रकार ऋषि शब्द की चार प्रकार की प्रवृत्तियां उल्लिखित हैं। मूलग्रन्थ में यह ऋषिनिर्वचन वशिष्ठप्राण के अन्तर्गत लिखा गया है। मूलग्रन्थ को कश्यपप्राण से प्रारम्भ करने का हेतु भी वहीं पर दिया गया है "कश्यपात् सकलं जगदित्याहुः। तमेतं कश्यपं व्याख्यास्यामः"। इसी प्रकार आगे का भाग भृगुअंगिरा प्रकरण का अश है।

इस क्रम के परिवर्तन से मूलग्रन्थ की व्याख्या न हो सकी। आधिदैविकाध्याय का जो अंश स्पष्टीकरण के लिये लिखा गया था, उसी में से एक आध की कुछ व्याख्या हो सकी और मूल ग्रन्थ संस्पूर्ण प्रकाशित न हो सका।

यों तो ग्रन्थकार की रचना में एक मुख्य विशेषता यह है कि ग्रन्थ के किसी भी विषय के एक अ श को पूर्ण समझा जा सकता है। परन्तु वह तो भिन्न भिन्न प्रकरण का ही एक विवेचन कहलायेगा। भिन्न भिन्न प्रकरणों को एक क्रम में देकर ही एक ग्रन्थ की रचना की गई है। क्रमपरिवर्तन से

उसकी वह सार्थकता नहीं रहती है। मेरी दृष्टि में लेखक के भावों की रक्षा के लिये उसी क्रम का निर्वाह करना समुचित प्रतीत होता है। फलतः सम्पूर्ण मूल ग्रन्थ को अक्षुण्ण रखते हुये यथावत् सम्पादन और प्रकाशन की आवश्यकता प्रतीत हुई।

एतदर्थ मैंने राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, जोधपुर में मूलप्रति प्रस्तुत कर सम्पूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन की अभिलाषा व्यक्त की। सम्मान्य सञ्चालक पद्मश्री मुनि जिनविजयजी महाराज ने मेरे प्रस्ताव से सहमति प्रकट करते हुये इसे समिति में स्वीकार किया।

प्रस्तुत ग्रन्थ में जिस विषय का विवेचन किया गया है वह ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है अर्थात् महर्षियों के कुल का वैभव। कश्यप, वसिष्ठ आदि जिन महर्षियों का इस में वर्णन है, क्या वे एक ही वशिष्ठ आदि ऋषि थे, अथवा शरीरधारी मनुष्य ही थे, किंवा अन्यत्र भी उक्त नामों का प्रयोग होता था इत्यादि बातों का ऐतिहासिक अर्थात् उन उन नामों के ऋषियों एवं उनके वंशजों का पूरा वर्णन साथ ही वैज्ञानिक, जैसे वसिष्ठ आदि तारामंडल में भी हैं, इस प्रकार ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक दोनों प्रकारों को बड़े परिश्रम और खोज से पूर्णरीत्या विस्पष्ट किया गया है, जिसका हिन्दी भाषा में अनुवादरूप क्रमबद्ध सारांश भी आगे प्रस्तुत किया है, जिससे हिन्दी भाषा में विशेष रूचि रखने वाले भी इससे लाभान्वित हों और वेद के विषय में अभिनव जानकारी प्राप्त कर सकें।

इस "मूलमहर्षिकुलवैभव" के प्रकाशन में राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान के सम्मान्य सञ्चालक पद्मश्री मुनि श्री जिनविजयजी महाराज तथा उप सञ्चालक पं० श्री गोपालनारायण जी बहुरा, एम. ए. प्रधानतः सहायक रहे हैं जो ससम्मान अभिवाद्य हैं।

म०म० पं० श्री गिरिधर शर्मा जी चतुर्वेदी वाचस्पति, पं० श्रीआद्यादत्त जी ठाकुर, एम. ए. भूतपूर्व संस्कृत प्रोफेसर लखनऊ विश्वविद्यालय, स्वामी श्री सुरजनदास जी, एम. ए. साहित्य, व्याकरण, वेदान्त, सांख्य योगाचार्य प्रधान संस्कृत विभाग गवर्नमेंट कालेज कोटा, प० श्री नवलकिशोरजी कांकर व्याकरण शास्त्री साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ, प्रोफेसर, पारीक कालेज जयपुर पूज्य पिताजी से अध्ययन कर उनके ग्रन्थों का सम्पादन लेखन आदि उनके समक्ष करते रहे हैं और अब मेरे ग्रन्थ प्रकाशन में भी यथाशक्य सहयोग देते रहते हैं। इसके लिये मैं इन सब महानुभावों का बड़ा आभार मानता हूँ।

---



समीक्षाचक्रवर्ति स्वर्गीय पण्डित श्री मधुसूदनशर्ममैथिलाः
लन्दन नगरे सन् १९०२ ई०

॥ श्रीः ॥

# महर्षिकुलवैभव का सारांश-

## १—कश्यप ।

इस प्रकरण में कश्यप प्राण जिससे पार्थिव समस्त वस्तु की उत्पत्ति होती है बताया गया है। कश्यप और कूर्म पर्य्यायवाची माने गए हैं इनका रहस्य तथा कच्छप जलचर प्राणी से किस अंश में सादृश्य है बताया है। कश्यप प्राण सूर्य स्थित मरीचियों से उत्पन्न होने के कारण मारीच कहलाता है यह भी सप्रमाण सिद्ध किया गया है। इसी प्रकरण में कश्यप की प्रधान स्त्री अदिति के सम्बन्ध में विशद विवेचन है। मतभेद से अदितिप्राण को चार प्रकार का दिखाया गया है १—सूर्य के सम्बन्ध से, २—द्रष्टा के सम्बन्ध से, ३—नक्षत्र के सम्बन्ध से तथा ४—आकाश के सम्बन्ध से। मनुष्य रूप वेद कर्त्ता कश्यप ऋषि से सम्बद्ध मंत्र संहिता तथा उनके आश्रम के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है।

## २—वसिष्ठ ।

वसिष्ठ ऊर्जा शक्ति युक्त प्राण है और इस प्राण के द्रष्टा भी मनुष्य रूप वेदकर्ता वसिष्ठ ऋषि थे। श्रुतियों के आधार पर इनका आश्रम सरस्वती नदी के दोनों पार्श्व में बसी हुई सरस्वती नाम की नगरी में था। वहीं इनकी प्रयोग शाला थी जिसे विज्ञान भवन या सूर्य भवन कहा जाता था। इस विषय का विवेचन ग्रन्थ कर्ता के 'इन्द्रविजय' ग्रन्थ में विशदतया वर्णित है। वसिष्ठ मित्र और वरुण के वीर्य से उर्वशी अप्सरा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। यह पुराणों में वर्णित है तथा पुराणों की मूल भूत श्रुतियों में भी इसका उल्लेख है। यह मनुष्य ऋषि के सम्बन्ध में चरितार्थ नहीं होता तथा वैज्ञानिक दृष्टि

से यह वर्णन प्राण रूप वसिष्ठ के सम्बन्ध में हुआ है यह सप्रमाण सिद्ध किया गया है। मित्र अर्थात सूर्य अथवा इन्द्र प्राण तथा वरुण प्राण से किस प्रकार वसिष्ठ प्राण का प्रादुर्भाव हुआ यह विवेचन अत्यन्त हृदयंगम है। इसी कारण वसिष्ठ, इन्द्र और वरुण दोनों के कृपापात्र थे तथा ऐन्द्रभारत और वारुणभारत के मध्यवर्ती स्थान में इनका आश्रम था। इन्द्र की कृपा से इनका यातायात भूस्वर्ग में भी अव्याहत था। वरुण से इनका विशेष रूप से मैत्री भाव था यह स्पष्ट रूप से वसिष्ठ के वेद मंत्र में मिलता है। वसिष्ठ के पुत्र शिष्य परम्परा वाले भी वसिष्ठ कहलाते थे अतः रामचन्द्र के काल में जिन वसिष्ठ महर्षिका उल्लेख है वे वसिष्ठ के गोत्रोत्पन्न थे ,मूल वसिष्ठ से भिन्न थे यह भी सिद्ध किया गया है।

## ३—अगस्त्य ।

इसी प्रकार अगस्त्य भी मुख्य रूप से प्राणथा तथा उसके प्राण के द्रष्टा ऋषि भी अगस्त्य नाम से अभिहित हुऐ। ये कुम्भजन्मा क्यों कहलाते हैं यह भी वैज्ञानिक रहस्य दिखाया गया है। वसिष्ठ के समान ही इनकी उत्पत्ति का मित्र और वरुण से सम्बन्ध वैज्ञानिक प्राण में ही सर्वथा घटित होता है। वसिष्ठ प्राण सौम्य होने के कारण उत्तर दिग्वर्ती है तथा आकाशस्थित सप्त र्षियों मे से वसिष्ठ नामक तारा में इस प्राण की विशेषता है इसी से वसिष्ठ का आश्रम भी उत्तर में था। अगस्त्य आग्नेय है और इसी लिये याम्य(दक्षिण) दिशा में इनका आश्रम था। अगस्त्य तारा जिस में अगस्त्य आग्नेय प्राण की प्रचुरता है वह भी दक्षिण आकाश स्थित है। आग्नेय प्राण होने के कारण जल का शोषण करना उसका विशेष धर्म है। इसी अगस्त्य प्राण के जल शोषण के प्रभाव मे , जल किस प्रकार फेन, ऊषा, मृत्तिका आदि मे परिणत होकर अन्त मे पत्थर, लोहा तथा हिरण्य रूप मे आकर पार्थिव स्वरूप का निर्माण करता है। यह वैज्ञानिक प्रक्रिया समझाई गई है। अगस्त्य प्राणके प्रचुर रूप से वितरण करने वाले अगस्त्य तारा के उदय से किस प्रकार आकाशस्थ मेघों का तथा पृथ्वीस्थ समुद्र जल शोषण होता है यह दिखाया गया है। इसी विज्ञान के आधार पर अगस्त्य ऋषि के समुद्र पान करने का रोचक आख्यान पुराणों मे वर्णित है। अगस्त्य की पुत्र शिष्य परम्परा इसी नाम से अभिहित थी।

## ४—भृगु-अंगिरा।

भृगु—अंगिरा के प्रकरण में सृष्टि प्रक्रिया का विशेष सम्बन्ध है अतः प्रारम्भ में ही सृष्टि प्रक्रिया पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया। कारण ब्रह्म के विषय में लिखा गया है कि उक्थ, प्रतिष्ठा और साम इस प्रकार त्रिलक्षण अद्वितीय कोई एक तत्त्व ब्रह्म है। जिसमें से उत्थान होता है वह उत्थ होकर उक्थ कहा जाता है। स्वतः उपक्षीण न होताहुआ वह अपूर्व वस्तु का उद्भावन करता है। अतः बृंहण स्वभाव के कारण ब्रह्म कहलाता है। उत्पन्न हो होकर अर्थ समूह जिसके आधार पर प्रतिष्ठित होता है वह प्रतिष्ठा कहलाती है। तथा इन उत्पन्न हुए भिन्न भिन्न पदार्थों में जो समान रूप से व्याप्त होता है वह साम कहा जाता है। यह ब्रह्म पहिले अव्याकृत था; बृंहण स्वभाव होने के कारण इसका व्याकरण हुवा। जो विभक्त नहीं है एक है. उसमें विभक्ति (विभाग) का उपपादन करना व्याकरण कहलाता है। उन्मुग्ध अवस्था वाले की उद्बुद्ध अवस्था है। जो निर्विशेष है उसमें विशेष की अभिव्यक्ति व्याकरण है। मन, प्राण और वाक् इन तीन सृष्टि कर्ताओं से आरब्ध कर्म पुरुष अथवा मन, विज्ञान और आनन्द इन तीन मुक्ति साक्षि से आरब्ध विद्या पुरुष हों, ये ब्रह्म के व्याकृत रूप में है। विद्या पुरुष सृष्टि बंध का मोचन करने वाला है। मन एवं कर्म पुरुष सृष्टि वन्धन करने वाला है। इनमें मन ज्ञान का, प्राण क्रिया का और वाक् अर्थों के उक्थ, साम और प्रतिष्ठा हैं। ये तीनों एक दूसरे के बिना नहीं रहते। इन तीनों मिले हुए रूप को ही आत्मा कहा जाता है। यह आत्मा सत्य रूप से विश्वव्यापी है और यह धर्मों को धारण करके धर्मा बन जाता है। यह धर्मों से पृथक् कभी नहीं रहता। प्राण ही शक्ति है अतः यह आत्मा सदैव कुछ न कुछ करता ही रहता है। ज्ञान के कारण निरन्तर कुछ न कुछ जानता रहता है। यह कारण ब्रह्म हुआ। अब इससे जो कार्य ब्रह्म हुए उनमें कार्यों के वैचित्र्य के कारण यह त्रैविध्य (उक्थ, साम और प्रतिष्ठा) भिन्न भिन्न आश्रय से रहता है। जो कोई भी पिण्ड दृष्टि पथ में आता है वह एक एक पृथक् उक्थ है। उसके भीतर नाभि (केन्द्र) में इन्द्र नाम का प्रतिष्ठा प्राण है। उसके चलने से पिण्ड चलता है तथा उसके स्थिर रहने से स्थिर रहता है अतः वह प्रतिष्ठा कहलाता है। यह पिण्ड जितनी दूरी तक दिखाई दे सकता है वहां तक फैला हुआ मंडल साम कहलाता है परन्तु ये तीनों ही सदा साथ रहते हैं ये एक दूसरे की आत्मा हैं। इनमें से एक के नष्ट होने से सभी नष्ट हो जाते हैं।

इस कार्य ब्रह्म की तीन जातियाँ हैं—१-स्वयं ज्योति सूर्य आदि। २-पर ज्योति चन्द्र आदि तथा ३-रूप ज्योति पृथ्वी आदि।

श्रुतियों में जहाँ कहीं भी सृष्टि होने का प्रकरण आता है वहाँ सर्वत्र यही मिलता है कि उसने इच्छा की, तप किया और श्रम किया। अतः इच्छा तप और श्रम ही सृष्टि के हेतु माने गए हैं। इन तीनों को यहाँ विस्तार से समझाया गया है। इसके आगे 'प्राजापत्यं कुरुक्षेत्रम्' शीर्षक में यह प्रतिपादन किया गया है कि जहाँ कहीं जो कुछ दृष्टि में आता है वह सब एक प्रजापति का कार्य क्षेत्र है। अव्यय पुरुष की पांच कलाओं में से ( आनन्द विज्ञान, मन, प्राण और वाक् ) प्राण के आधार पर अक्षर पुरुष का विकास होता है। प्राण ही क्रिया का जनक है प्राण के द्वारा ही क्रिया संभव है अतः सृष्टि प्रक्रिया में प्राण की प्रधानता मानी जाती है। अक्षर पुरुष की प्रेरणा से वाक् भाग में विकृति होती है वह विकृत होने वाला तत्व क्षर पुरुष कहलाता है। अव्यय अक्षर और क्षर तीनों एक साथ रहते हैं। इनमें वाक् भाग के क्षर पुरुष में विकार होने से उनके पांच विभाग हो जाते हैं जिन्हें प्रकृति ब्रह्म कहते हैं। ये प्राण, आप्, वाक्, अन्न और अन्नाद कहे जाते हैं। फिर इनका पंची करण होता है। प्रत्येक के आधे भाग में अन्य चारों के भाग सम्मिलित हो जाते हैं। परन्तु आधा भाग मुख्य रहता है इससे प्रधानता के कारण इनका नाम वही प्राण आदि रहता है। श्रुतियों में अनेक स्थलों में ऋषियों को अनेक स्थानों में प्राण कहा गया है—"प्राणा वा ऋषयः"। अनेक स्थलों में उन्हें वाक् कहा गया है। इसका समन्वय इसी प्रक्रिया से होता है कि अक्षर पुरुष ( प्राण ) के प्रेरणा से वाक् के विकार से जिनकी उत्पत्ति है वे विवक्षा के अनुसार प्राण भी कहे जाते हैं तथा वाक् भी। उदाहरण के लिये क्षरपुरुष की कला में प्रथम जो प्राण शब्द है वह प्राण तो है ही वाक् का विकार होने से वाक् भी है। मनः प्राण वाङ्मय अक्षर पुरुष सृष्टि करने के लिये प्रवृत्त होता है। इनमें प्राण प्रधान है यह कहा गया है क्योंकि मन और वाक् स्वतः अक्रिय हैं। प्राण के आधीन ही इन्हें वृत्ति का लाभ होता है। ये तीनों सदा साथ रहते हैं अतः अक्रिय होते हुए भी मन अपने सहचर प्राण के आधार पर इच्छा करता है। स्वतः अन वच्छिन्न होने पर भी प्राण की मात्रा के अनुसार ही मन की कामना होती है। क्षुद्र मन का काम क्षुद्र तथा महत् मन का महान् होता है। काम बल की मात्रा के अनुसार उनके आश्रित वाक् का भी मण्डल छोटा या बड़ा होता है। इस प्रकार मनः प्राण वाङ्मय

प्राजापत्य संज्ञक कुरुक्षेत्र संज्ञक ये अनन्त ब्रह्म रूप उत्पन्न होते हैं। इनमें भी एक एक प्राण सामान्य खण्ड में काम के अनुसार अवान्तर अनेक विशेष उत्पन्न होते हैं। परन्तु इन सब विशेषों का अविशेष पौर्विक रूप प्राण सामान्य है वही असत् प्राण या ऋषि कहा जाता है। विद्यमान कार्य के समान उसका रूप वही है इससे उसे असत् कहते हैं। इसी असत् प्राण अर्थात् ऋषि प्राण से अन्तः सृष्टियां होती हैं। अव्यय पुरुष के आलम्बन से क्षर पुरुष का साधन बनाकर विश्व व्यापी कोई अक्षर पुरुष प्रकृति (प्राण, अप् आदि) से विशिष्ट होकर प्रकृति ब्रह्म के पांच प्रकार के होने के कारण पांच प्रकार का हो जाता है। वह प्राणमय स्वयं भू है; आपोमय परमेष्ठी, वाङ्मय सूर्य, अन्नमय चन्द्र और अन्नादमय पृथ्वी है। स्वयंभू सत्य लोक है इसके परमेष्ठी के मध्य का अन्तरिक्ष तपो लोक है; परमेष्ठी जनल्लोक कहलाता है। परमेष्ठी और सूर्य के मध्य का अन्तरिक्ष महर्लोक है। सूर्य स्वर्लोक है। सूर्य और पृथ्वी के मध्य का अन्तरिक्ष भुवर्लोक तथा यह पृथ्वी भूलोक है। ये सात लोक उत्तरोत्तर क्रम से संनिविष्ट हैं। इनमें सत्यलोक स्वयं भू ब्रह्माग्नि लोक हैं। ऋक् साम और यजुः में यजुः को ब्रह्माग्नि कहते हैं। यत् ( गतिशील ) तथा जू-( स्थितिशील ) दोनों तत्व सम्मिलित रूप से यजुः कहलाते हैं। स्थितिशील आकाश है तथा गतिशील वायु (ये आकाश और वायु भौतिक आकाश और वायु से भिन्न तत्व हैं)। ये गतिशील अनन्त वायु ऋषि कहलाते हैं। ये दो प्रकार के हैं जिनमें अवयव उन्मुग्ध हैं विकसित नहीं है तथा जिनमें अवयव उद्बुद्ध हैं। प्रथम प्रकार के असत् प्राण सत्य लोक में है। फिर ये तपो लोक में आकर तप्त होकर परिलुब्ध होकर क्रम से तृतीय पारमेष्ठ्य जनल्लोक में आकर उद्बुद्धावयव होकर पितृ बन जाते हैं। अर्थात् आगे की सृष्टि के निर्माण में प्रवृत्त होते हैं। ये अनन्त प्रकार के हैं। इनमें से बारह की अधिक स्तुति पाई जाती है-भृगु अंगिरा अत्रि, मरीचि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, दक्ष, वसिष्ठ, अगस्त्य, विश्वामित्र और विश्व कर्मा। ये पितृ संज्ञक सृष्टि कर्त्ता प्राण वाक् योनि में अपने को सिक्त करते हुए अक्षर पुरुष के मनो विशेष से ग्रहण किये हुए बल के प्रयोग विभिन्न रूप इन सब सृष्टियों को उत्पन्न करते हैं। मन की उत्पत्ति सोम से होती है अतः सोम मय मन सर्व प्रथम कामना करता है। मानस रूप की कल्पना करके तदर्थ प्राण को नियुक्त करता है और प्राण से आघात् पाकर वाक् विकृत होती है। यह सर्व सृष्टि का सर्व साधारण नियम है।

यह ऋपि प्राण स्वभावतः वर्तु ल वृत्त प्रायः होता है। यह परिमण्डल शरीर तीन प्रकार से विभक्त होता है। मध्यम प्राण (केन्द्र या नाभि स्थित) अभय कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है सवीर्य और कहीं कहीं निर्वीर्य। ब्रह्म, क्षत्र और विश् ये वीर्य हैं। ब्रह्म वीर्य होने पर यह आत्मा प्रशान्त वृत्ति-युक्त शान्ति प्रधान ज्ञान शील होता है। क्षत्र वीर्य होने पर वीर भाव के कारण स्वतन्त्र वृत्ति, महोत्साह सम्पन्न तथा पराक्रमशील होता है। विड्वीर्य होने पर पशु भाव के कारण अन्य का अनुरोध रखने वाला परतन्त्र वृत्ति, पर के आश्रय की अपेक्षा रखने वाला दूसरों के लिये व्यवसाय करने वाला होता है। निर्वीर्य मृत भावापन्न आत्मा दूसरों से पराभव पाता हुआ, लघुता के कारण अधीर और शीघ्र द्रवित होने वाला होता है। इन तीनों वीर्यों के प्रभव मन प्राण और वाक् क्रमशः होते हैं। ये तीनों सदा साथ रहते हैं अतः मनः प्राण वाङ् मय आत्मा में ये तीनों वीर्य सदैव रहते हैं। परन्तु प्रधानता जिसवीर्य की होती हैं उसके अनुसार विभाग बताया गया है। प्रत्येक पिण्ड में असंज्ञ अन्तः संज्ञ और ससंज्ञ में इन वीर्यों की अवस्थिति है इसीलिए रत्नआदि वृक्ष आदि में भी यह वीर्य प्राधान्य जन्य विभाग शास्त्रों में वर्णित है चन्द्र की आत्मा ब्राह्मण है, सूर्य की क्षत्रिय और पृथ्वी की वैश्य। इन पिण्डों में रहने वाले पशुओं की आत्मा निर्वीर्य अर्थात् शूद्र है। यह आपेक्षिक है। वास्तवमें शूद्र और पशुओं में तीन वीर्यों की सत्ता है परन्तु अत्यन्त अल्पमात्रा में होने की दृष्टिसे निर्वीर्य कहा जाता है । इस ब्रह्म वीर्य की प्रधानता के अनुरोध से प्रजापति शब्द तथा क्षत्रवीर्य के अनुरोध से इन्द्र शब्द का व्यवहार होता है। वास्तव में दोनों एक ही हैं। इस केन्द्रस्थ इन्द्र से इद्ध होकर सात प्राण उद्भूत होते हैं। इनमें मध्य के चार आत्मा (मुख्य आत्मा नहीं) दोनों ओर के दो पक्ष और एक पुच्छ होते हैं। ये चित्य होते हैं अर्थात चयन होकर स्थिर रूप में भूतों के आधार बनते हैं। फिर और समिन्धन होने पर इनकी श्री से शिरः स्थानीय सात प्राण होते हैं ! जो चितेनिधेय कहलाते हैं और ये दोनों के आधार भूत हैं। ये दोनो प्रकार के प्राण एक शब्द में अग्नि नामसे व्यवहृत हैं और उसी अग्नि के भेद चित्य और चितेनिधेय हैं। चित्य विना चितेनिधेय के नहीं रहता। दोनों सदा साथ रहते हैं। प्राण का जितना अंश सीमावद्ध होकर भूत रूप में चित्य है और जो प्राण उससे अति-रिक्त चित्य रूप में न होकर स्वरूप में रहते हैं वे चितेनिधेय हैं । ये दोनों ही इन्द्र से सन्नद्ध हैं। चित्य को मर्त्य और चितेनिधेय को अमृत कहते हैं और

मध्यस्थ इन्द्र इनकी प्रतिष्ठा है। इस प्रकार इन्द्र अमृत और मर्त्य के द्वारा सर्वत्र त्रिवृद्भाव समझना चाहिये। इसके आगे पशु शब्द का विस्तृत विवेचन है। यह पारिभापिक शब्द है। केन्द्रस्थ इन्द्र प्राण के मूल में अक्षररूप इन्द्र और विष्णु रहते हैं। वह इन्द्र विक्षेपण प्राण है उसके विक्षेप के साथ विष्णु जो उसका सहचारी है वह भी बाहर निकलता है और अशिति ग्रहण करके आत्मा में समर्पण करता है। इसी विष्णु के साथ यह नभ्य प्राण इन्द्र भी बाहर निकलता है और विष्णु के द्वारा समाकृष्ट आगन्तुक दिव्य रसों की आहुति से यज्ञ जन्य मर्त्य अमृतमय अन्य रूप धारण करता हुआ उन दोनों नए अमृत और मर्त्य के आश्रय से उनके केन्द्र में प्रतिष्ठित होता है। जैसे भूपृष्ठ पर शिला, गैरिक आदि धातु अथवा दूर्वा वनस्पति अथवा कीट पशु मनुष्य आदि, ये पशु हैं। मुख्य इन्द्र प्राण वर्तुल वृत्त होता है यह कहा जाचुका है। परन्तु यह बाहर निकला हुआ इन्द्र प्राण समान रूप से सब ओर नहीं निकलता अतः मण्डल रूप नहीं होता अतः इन पशुओं में पूर्ण इन्द्र नहीं रहता है अर्धेन्द्र कहा जाता है। यहां पर जो यज्ञ होता है अग्नि में सोम की आहुतही यज्ञ है. इसे शिपिविष्ट कहा जाता है।यद्यपि शतपथ ब्राह्मण में तथा ऐतरेय ब्राह्मण में भी दूर्वा आदि अन्तः संज्ञ को ही पशु कहा गया है तथापि असंज्ञ और ससंज्ञ भी उससे उपलक्षित होता है। पृथ्वी के स्वरूप को पुष्ट करने के कारण ही अन्तः संज्ञ दूर्वा आदि को पशु वहां कहा गया है। यह पोषत्वरूप पशु का लक्षण असंज्ञ और ससंज्ञ भी समान रूप से घटित होता है। यह भी स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि इन्द्र प्राण के ही आधार पर तीनों लोकों में अमृत के साथ मर्त्य और पशु कहे गये हैं। तथापि वे प्राण सर्वत्र मन और वाक् के साथ रहते हैं। वाक् ही उल्वण रहती है, इसलिए ये उसे वाक् भी कहा गया है। पशुओं को पूर्व में निर्वीर्य कहा गया है वह पृथ्वी आदि मूल आधार की अपेक्षा से अल्पवीर्य के अर्थ में समझना चाहिये यह भी कहा जा चुका है। पृथ्वी पिण्ड की अपेक्षा से मनुष्य भी पशु माना गया है। यह अर्धेन्द्र है, इसका दूसरा अर्ध भाग विवाह के द्वारा स्त्री के द्वारा पूर्ण होता है-यह सप्रमाण विशद रूप से सिद्ध किया गया है। इस अर्धेन्द्र को मनु भी कहा गया है। मनु वैराज कहलाते हैं इसके लिए भी मनुस्मृति का प्रमाण दिया गया है। इसके आगे विराट् पुरुष का सविस्तार वर्णन है। विराट् के दश धर्म कहेगये हैं यथा-प्राण, देव, ऋषि, ग्रह, स्तोम.पृष्ठ, ऋतु, दिक्, छन्द और साम। इसका विस्तृत वर्णन पद्यों में यहां किया गया है।

विराट् अग्नि रूप है इसकी व्याप्ति २१ अहर्गणों तक है इसके आगे इससे अव्यवहित २२ से ३३ अहर्गण तक पारावत सोम की अवस्थिति बताई गई है। अग्नि में सोम की आहुति ही यज्ञ है। बिना सोमकी आहुति के अग्नि का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता। यह विराट् सोम को प्राप्त करके उसे अग्नि रूप में परिणत करके आत्मारूपी इन्द्र को आप्यायित करता है। वास्तव में अग्नि और सोम एक ही तत्व के रूपान्तर हैं। दिशाओं से आकर सोम अग्नि में आहुत होकर अग्नि रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार यह परिवर्तन निरन्तर चलता रहता है।

इसके आगे वेद सृष्टि पर भी विचार किया गया है। इन्द्र अमृत और मर्त्य जिसका विग्रह है ऐसे आद्य प्रजापति ईश्वर ने कामनाकी कि हम भूयान् (विपुल) हो जाँय। उन्होंने तप और श्रम किया और इच्छा तपः और श्रम के द्वारा सर्व प्रथम ब्रह्म अर्थात् त्रय्या विद्या ऋक्, साम और यजुः का सृजन किया। उसीके अनुसार सब अन्य प्रजापति भी इच्छा तपः श्रम के द्वारा अपने अपने विग्रह में पृथक् रूप में त्रयी विद्या का उद्भव करते हैं। कारण के धर्म ही कार्य के धर्मों को आरम्भ करते हैं यह नियम है। यह त्रयी विद्या उस आत्मा की प्रथमसृष्टि है। यही त्रयी विद्या उस उस आत्मा की प्रतिष्ठा होती है। यह त्रयी विद्या चतुर्थ आथवर्ण विद्या का भी उपलक्षण है। अग्नि और सोम के द्वारा विभक्त सम्पूर्ण सृष्टि में अग्नि के विभाग रूप त्रयी विद्या से अव्यवहित संलग्न ऊर्ध्व भागमें सोम रूप अथर्व विद्या भी संनिविष्ट रहती है क्योंकि सोम की आहुति के विना अग्नि का रूप ही निष्पन्न नहीं होता। प्रजापति ब्रह्म हैं। उसके द्वारा सृष्ट ये वेद भी ब्रह्म कहे जाते हैं। प्रजापति के सन्तनन (फैलाव) रूप ही ये वेद हैं तथा मन और प्राण को भीतर रखती हुई वाक् ही ये तीनों वेद हैं। वाक् का यह सन्तान (फैलाव) वैदिकी परिभाषा में सहस्र नाम से कहा जाता है।

इसके आगे प्रजापति के दशव्यूह बताये गये हैं इनमें प्रधान तीन भेद माने जाते हैं। नभ्य इन्द्र अनिरुक्त प्रजापति है वह प्रतिष्ठा है। शिपिविष्ट विराट् प्रजापति है वह उक्थ है तथा सब लोक सब वेद संवत्सर प्रजापति है।*

---

* नोटः—भृगु अंगिरा प्रकरण का यहां तक का अंश म० म० गिरिधर शर्मा जी की व्याख्या सहित छप चुका है। हिन्दी भाषान्तर भी वहीं दिया हुआ है।

अग्नित्रय के तीन लोक हैं उससे आगे अंगिरा और भृगु का संवलित आपो लोक है। याज्ञवल्क्य आदि कई महर्षियों ने आपोलोक को चतुर्थ लोक कह कर वर्णन किया है। इसका मुख्य कारण यह है कि जिस प्रकार तीन अग्निवेद-ऋक् यजुः और साम क्रमशः पृथ्वी अंतरिक्ष और आदित्य इन तीन अग्नियों से सम्बद्ध हैं उसी प्रकार भृगु अंगिरा दोनों से मिला हुआ चतुर्थ आथर्वण वेद आपोलोक से सम्बद्ध है। वेद चार हैं अतः इन महर्षियों ने लोकों कोभी चार ही बताया है। इसके लिए गोपथ ब्राह्मण का प्रमाण उद्धृत है कि आपोलोक भृगु और अंगिरा का रूप है, वह भृगु अंगिरोमय है। परन्तु आन्द विद्या में वर्तुल वृत्त रूप गर्भ कोष को आन्द कहा गया है। अंगिरा बृहस्पति तथा विद्युद्भृगु के द्वारा पृथक् पृथक् लोक माने गये हैं। यहां उनके सम्बन्ध में उपपत्ति देकर पूर्ण विवेचन किया गया है।

वाग्लोक से सर्व प्रथम आपः की सृष्टि हुई। मनः प्राण मयी वाक् ही अप् रूप में परिणत हुई। यहां इस आप् को यौगिक जल न समझा जाय। वास्तव में यह जलकी ही पूर्वावस्था नहीं है प्रत्युत आगे की सम्पूर्ण सृष्टि ही सर्व प्रथम तत्त्व का परिणाम है। इस अप् की सृष्टि होने पर ब्रह्म के तीन प्रकार हो गए। प्रथम जो सृष्ट हुआ वह भी ब्रह्म का रूप है। उसकी सृष्टि करके ब्रह्म उसमें प्रविष्ट हुआ वह प्रविष्ट ब्रह्म कहलाया तथा इन दोनो से अतिरिक्त अविकृत रूप में स्व स्वरूप में स्थित तीसरा मुख्य ब्रह्म हुआ। उस प्रजापति ने उन अप् में अपनी छाया देखी। सृष्ट ब्रह्म मेंजो प्रविष्ट ब्रह्म था वही मुख्य ब्रह्म की छाया कही गई है। वही अथर्ववेद सहित त्रयीवेद है। पूर्व अविकृत ब्रह्म में मनः प्राणमयी वाक् असीमित थी उससे भिन्न यह आपो मण्डल की मनः प्राणमयी वाक् छोटी है तो भी पूर्व विग्रह की समानता होने के कारण उसे छाया कहा गया है। बृहन्मण्डल के भीतर क्षुद्र मंडल रूप स्वच्छाया को देखकर ब्रह्म का रेतः स्कन्न होकर उन अप् में प्रविष्ट होगया। उसने अप् संवरण किया इसलिए वह 'वरुण' नाम से अभिहित हुआ। यह वरुण दो प्रकार का हो गया। एक अपं में लीन और दूसरा अप् से मुक्त। इसी के प्रभाव से अप् के भी दो भेद हो गये—एक क्षार युक्त अपेय, दूसरा सुस्वाद और पेय। प्रजापति ने उस रेत में जल को सन्तप्त किया और श्रम किया उससे रेत का भर्जन हुआ और वह भृगु कहलाया। इस वरुण रूपी रेत से उत्पन्न होने के कारण भृगु वारुणि कहे जाते हैं। भृगु की सृष्टि करके वे अन्तर्हित

होगये। सृजन किए हुए इन भृगु ने पांच प्रकार का रूप सृजन किया वायु मातरिश्वा, पवमान, वात और अथर्वा। ये सब वायु रूप हैं,अनायतन प्रवहण शील अन्तरिक्षचारी भाव हैं। इसके आगे भृगु और अथर्वा का भेदाभेद दिखाया गया है। अनेक श्रुति वाक्य उद्धृत करके दिखाया गया है कि कहीं भृगु और अथर्वा को भिन्न भिन्न माना है और कहीं एक ही। तथा इन दोनों मतों का समन्वय भी किया गया है। श्रुतियों में भृगु और अंगिरस सम्बन्धी चतुर्थ वेद आथर्वण का लोक अप् माना गया है और चन्द्रमा लोकपति है। ये वायु आप् और चन्द्रमा अन्योन्य समन्वित रहते हुए सहचारी हैं और सबका आप्यायन करते हैं। चन्द्रमा दो प्रकार का है–भास्कर चन्द्र और दिक् चन्द्र। पृथ्वी की परिक्रमा करने वाला चन्द्र भास्कर है यह बाद में अत्रिप्राण से उत्पन्न हुआ है। अतः भृगु प्रकरण में दिक् चन्द्र अभिप्रेत है जो आद्य है भास्कर चन्द्र की आरम्भक तत्व है अनायतन है और सर्व जगद् व्यापी है। इस प्रकार आप् वायु और दिक् चन्द्र (सोम) से भृगु तीन स्वरूप वाला माना गया है।

अब वरुण जो ब्रह्म रेतो रूप थे और अप से वरण होनेके कारण वरुण कहे गए हैं वे समुद्र से मुक्त हो गए। उस अवच्छेद (सामा) से स्वतन्त्र होना ही मुक्ति है। इसीलिए ये मुच्यु होकर मृत्यु कहे गये हैं। प्रजापति ने उनको अभितप्त किया और उनके सब अंगों से रस क्षरण हुआ वह अंगरस अंगिरस् कहलाया। उसने ऊर्ध्व में रहकर इन सब लोगों का अवष्टम्भन किया। सब घन पिण्डों में से प्रत्यंग से निकलकर ऊपर संचरण करता हुआ यह अंगिरा प्राण प्रतीत होता है। पृथ्वी पिण्ड से भी निकलकर यह प्राण द्यौः की ओर जाता है श्रुतियों में मिलता है आदित्य प्राण और अंगिरा प्राण में परस्पर स्पर्धा होती है कि कौन पहिले स्वर्गलोक को जाता है। इसका वैज्ञानिक समाधान यह किया गया है कि पृथ्वी पिण्ड के केन्द्र से निकल कर यह अंगिरा प्राण स्वर्ग की ओर जाता है। इसी प्रकार आदित्य प्राण भी पृथ्वी पिण्ड से आहत होकर ऊपर जाता है इन दोनों में पहिले कौन स्वर्ग पहुंचता है। यह स्पर्धा है। सूर्य प्राण प्रथम पहुँचता है क्योंकि उसकी व्याप्ति तृतीय लोक तक ही है। परन्तु अंगिरा प्राण का प्रभाव चतुर्थ लोक है अतः उसका गन्तव्य मार्ग बड़ा होने से वह अपेक्षाकृत विलम्ब से पहुँचता है। जितने जप यज्ञ हैं वे सब इसी में अर्पित होते हैं। कठिन धातु रूप यह

अंगिरा प्राण तीनों लोकों के रस से मिलकर तीन प्रकार का होजाता है:—आग्नेय, याम्य और आदित्य। आग्नेय कृष्णवर्ण है; याम्य सीसा के वर्ण का है तथा आदित्य शुल्क वर्ण है। गोपथ में आता है कि अग्नि आदित्य और यम ये अंगिरस् हैं। इनमें भौम अंगिरा प्रज्वलित होते हुए अग्नि का स्वरूप सम्पन्न करता है। अग्नि को त्रिवृत् (तीन रूप वाला) कहा गया है—अंगार, अर्चि (लपट, लौ) और धूप। अंगारों में अंगिरा उत्पन्न हुआ तथा ज्वाला से भृगु हुआ इसका अभिप्राय यही है कि अंगार के स्वरूप का आरम्भक यह अंगिरा प्राण है तथा ज्वाला सोम के योग से होती है अतः उसका आरम्भक भृगु प्राण है ये भृगु और अंगिरा प्राण आपोलोक के तत्व हैं। स्वरूप से ये आन्तरीक्ष्य और अनायतन हैं तब सर्वत्र व्याप्त हैं।

इसी प्रकार नक्षत्र विद्या में रोहिणी लुब्धक आख्यान के द्वारा भृगु और अंगिरा प्राणों का वर्णन किया गया है।

अध्यात्म में भी भृगु और अंगिरा प्राणों का कार्य उपलब्ध होता है। अंगिरा प्राण के प्रभाव से पूर्वानुभव की स्मृति होती है। भृगु प्राण के द्वारा ख्याति यश श्रीः प्राप्त होती है। इसी प्रकार इन प्राणों के द्रष्टा महर्षि भी इन नामों से प्रसिद्ध हो गये हैं।

## अत्रि ।

अत्रि भी मुख्यतः प्राण रूप हैं। सप्तर्षियों में जो अत्रि तारा रूप में हैं इनमें भी अत्रि प्राण की प्रधानता है। अत्रि प्राण का गुण यह है कि जिस वस्तु में इस प्राण की अधिकता रहती है वह पारदर्शक नहीं होती। सूर्य आदि की किरणें उसके पार न जाकर उससे टकराकर प्रत्यावर्तित हो जाती हैं। दक्ष और वरुण नामक प्राणों के योग से इस प्राण की उत्पत्ति बताई गई है। सूर्य चन्द्र पृथ्वी आदि जितने घन द्रव्य हैं उनमें इस अत्रि प्राण की अधिकता पाई जाती है। इसी प्राण से आकाश स्थित चन्द्र की उत्पत्ति हुई है यह इस प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित हुआ है। इस प्राण की शक्तिभूता अनसूया है। जिस पुरुष में इस प्राण की अधिकता होती है उसमें अनसूया नामक गुण विशेष रूप से पाया जाता है। अनसूया का लक्षण यह दिया गया

है कि जो गुणी के गुणों का नाश नहीं करता, सम्मान करता है तथा जिनमें कम गुण हैं उनकी भी प्रशंसा करता है तथा दूसरे के दोषों को देखकर उपहास नहीं करता। ये गुण अनसूया कहलाते हैं। इस अत्रि प्राण से चन्द्र की उत्पत्ति किस प्रकार हुई इसका विषद् वर्णन किया गया है। श्रुति का घोष है कि यह विश्व अग्नि और सोम तत्त्वों से मुख्यतः बना है। अग्नि का गुण है विशकलन करना अर्थात् बिखेरना—अलग २ करना। सोम का गुण है संकुचित करना-इकट्ठा करना। इन्हीं दोनो तत्त्वों के तारतम्य से प्रत्येक पदार्थ में घनता तरलता तथा विरलता प्रत्यक्ष परिलक्षित होती है। प्रत्येक पदार्थ में दोनों तत्व सम्मिलित रहते हैं। यदि सोम तत्त्व न रहे तो कोई भी वस्तु अपने स्वरूप में नहीं रह सकती—अग्नि के द्वारा विशकलन होते होते उसका लोप होही जायगा। इसी प्रकार अग्निके न रहने पर भी वह वस्तु संकुचित होते होते लुप्त हो जायगी। फलतः जिस पदार्थ में जितनी अधिक घनता होगी, जितनी अधिक मात्रा में अत्रि प्राण होगा उसी के अनुसार उसमें सोम तत्त्व की मात्रा भी अधिक होगी। पृथिवीस्थ इसी सोम तत्त्व से आकाशस्थ सोम पिण्ड (चन्द्र) की उत्पत्ति की। वैज्ञानिक प्रक्रिया का प्रकार यह है कि जब यह पृथ्वी प्रतिसंवत्सर काल में सहस्रांशु सूर्य के आस पास भ्रमण करती है तब सूर्य की किरणों के संताप से यह अत्रि प्राण प्रतिक्षण निकलता रहता है और पृथ्वी के ऊपर सब ओर छा जाता है। यह प्राण इसी प्रकार उष्ण होता रहता है। परिक्रमण की तीन आवृत्ति होने पर तीन संवत्सर के सूर्य के उत्ताप से यह अत्रि प्राण सोमत्व को प्राप्त होता है। यह सोम भाग गरम होते हुए अत्रि के नेत्र से स्रुत होता है। नेत्र शब्द यहां रश्मि (किरण) का वाचक है। अत्रिप्राण का यह सूक्ष्म भाग इससे पृथक होकर सब दिशाओं में ऊपर व्याप्त होता हुआ सजातीय आकर्षण के कारण फिर पृथिवी पर गिरने का उपक्रम करता है। पृथ्वी पर गिरते हुए इस सोम समूह को हिरण्य गर्भ ब्रह्मा वायु रूप से चन्द्र कक्षा के धरातल में रोककर इक्कीस बार परिक्रमण करते हुए क्रम से इस सोम राशि को एकत्र करते हुए सूर्य के समान सहस्र किरण युक्त सोम पिण्ड के रूप में सम्पादित करते हैं। यही चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा करता हुआ आकाश में दृष्टिगोचर होता है। वर्तमान विज्ञान भी मानने लगा है कि आकाश में फैली हुई केतु की किरणों के क्रमशः एकत्रित होने पर सूर्य पिण्ड बना है। इसी प्रक्रिया से अत्रि प्राणों के सार भूत सोम

तत्व से यह चन्द्र पिण्ड बना है इसे मानने में कोई आपत्ति का अवसर नहीं होता।

अत्रि प्राण के द्रष्टा मनुष्य रूप में भी अत्रि महर्षि थे जिनका उल्लेख श्रुतियों में तथा पुराणों में स्पष्ट रूप से मिलता है। इनका आश्रम कहां था यह ठीक ज्ञात नहीं होता। महाभारत के उल्लेख से इतना ज्ञात होता है कि इनका आश्रम उत्तर भू-भाग में था। ये प्रथम अत्रि महर्षि अत्रि परिषद् (विज्ञान-शाला) के अधिष्ठाता (ब्रह्मा) थे। इनके द्वारा प्रतिष्ठित अत्रिवंश में ग्रह नक्षत्र आदि ज्योतिर्विद्या की परीक्षा विशेष रूप से प्रचरित थी। प्रथम अत्रि के समय सूर्य के ग्रहण होने पर तत्कालीन बहुत से विद्वान् उसके कारण का निर्धारण करने के लिए प्रयत्न करते थे। किन्तु सर्व प्रथम अत्रि परिषद् के अधिष्ठाता अत्रियों ने ही ग्रहण के कारण का अवधारण किया था उसका स्पष्ट उल्लेख वेद मन्त्र में मिलता है। इसीका रोचक वर्णन पुराणों में भी किया गया है। ग्रहण काल में सूर्य की परीक्षा करने के यन्त्रों के नाम भी मंत्र में उल्लिखित हैं परन्तु उनका विशेष विवरण कालदोष से लुप्त हो गया। वेद मन्त्र द्रष्टाओं में अत्रि नाम के दो महर्षियों का उल्लेख है। प्रथम अत्रि भूमिष्ठ अत्रि प्राण के द्रष्टा थे इसलिए ये भौम अत्रि कहे जाते हैं। इन्हीं की परम्परा में दूसरे अत्रि ने सप्तर्षि तारा स्थित अत्रि नामक तारा के प्राणों का आविष्कार किया था ये भी अत्रि परिषद् के ब्रह्मा पद पर प्रतिष्ठित थे। ये सांख्यात्रि नाम से प्रसिद्ध हैं।

प्रथम भौम अत्रि महर्षि के औरस पुत्र अनसूया गर्भज मनुष्य रूप चन्द्र थे। इनसे ही प्रकाशमय पवित्र चन्द्र वंश प्रवृत्त हुआ जो देव युग से अब तक अविच्छिन्न रूप से चलरहा है और जो ब्रह्मा के द्वारा प्रवर्तित वैदिक धर्म का पालन करता हुआ आज दिन भी दृष्टिगोचर होता है।

अत्रि महर्षि की परम्परा भी अत्रि नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी प्रकार इनकी पत्नी अनसूया भी जातिवाचक हो जाने के कारण वंशधर अत्रियों की पत्नियों के नाम से व्यवहृत होने लगी। इसी कारण भिन्न भिन्न काल में पति पत्नि के रूप में अत्रि और अनसूया के नामों का उल्लेख पुराणों में मिलता है। महाभारत–बन पर्व में एक कथा उल्लिखित है। अत्रि निःस्पृह वृत्ति होने के कारण दारिद्र्य से कष्ट पा रहे थे। पुत्र कलत्रादि का कष्ट देखकर

धनयाचनार्थ वेन पुत्र पृथु के यज्ञ में जाने का विचार किया—परन्तु याचना कर्म में दुःख ही है यह सोचकर तपश्चरण के लिये वन में ही जाने का निश्चय किया। परन्तु अपनी पत्नी अनसूया के आग्रह के कारण इच्छा न रहते हुए भी पृथु की यज्ञ शाला में पहुँच गये तथा राजा को सम्बोधन करके चाटुवाक्य बोलने लगे कि आप धन्य हैं आप ईश्वर हैं इत्यादि। वहां उपस्थित महर्षि गौतम ने क्रुद्ध होकर उन्हें फटकारा कि तुम्हें इस प्रकार नहीं कहना चाहिये। ये राजा मनुष्य हैं इनकी ईश्वर रूप में स्तुति प्रशंसा करना युक्त नहीं है। ब्राह्मण होकर तुम्हें चाटुवाद करके मिथ्या भाषण नहीं करना चाहिये। तब सनत्कुमार ने मध्यस्थ होकर अत्रि के पक्ष में व्यवस्था देकर विवाद का शमन किया। इनका आशय यह था कि मनुष्य रूप होने पर राजा देवता है। पृथु ने प्रसन्न होकर अत्रि को प्रभूत धन राशि दी। वह सब अपने कुटुम्ब को सौंप कर तपस्या के लिए वन में चले गये। पृथु भी अत्रिवंशज थे। उनके यज्ञ में पहुँचने वाले ये अत्रि भी अवश्य ही अत्रिवंशज थे, प्रथमात्रि नहीं हो सकते। इसी प्रकार जिन अत्रि और अनसूया निर्देश रामायण में मिलता है। ये दोनों भी मुख्य अत्रि और अनसूया से भिन्न थे।

पुराणों में कहीं चन्द्र को अत्रिनेत्र से उत्पन्न हुआ कहा गया है, कहीं अत्रि की भार्या अनसूया से उत्पन्न। इस परस्पर विरोध का समाधान यही है कि आकाशस्थ चन्द्र की उत्पत्ति अत्रि के नेत्र से है। तथा भूमिष्ठ मनुष्य रूप चन्द्र की उत्पत्ति अनसूया के गर्भ से है।

## विश्वामित्र।

मन्त्र और ब्राह्मणों के अनुसार सूर्यगत प्राण को इन्द्र कहते हैं। इन्द्र शब्द विषय भेद से चौदह अर्थों में प्रयुक्त हुआ है यह ग्रन्थ कर्ता ने ब्रह्म समन्वय आदि में स्पष्ट किया है। यहां इस प्रकरण में सूर्य प्राण रूप इन्द्र का उल्लेख है। यहां भी तीन प्रकार के इन्द्रों में से महोक्थ, महाव्रत और पुरुष प्राणों में से महाव्रत नामक अन्न रूप इन्द्र प्राण को विश्वामित्र कहा गया है। श्रुतियों के आधार पर यह दिखाया गया है वेद रूप प्राणों के फैलाव से जहां तक उनकी व्याप्ति होती है उनकी पारिभाषिक संज्ञा 'सहस्र' है। यह साहस्र

तीन भागों में विभक्त है साहस्र के अवान्तर विभाग 'अहः' कहलाते हैं। उक्थ पिण्ड से विस्तृत होतीहुई उत्तरोत्तर छोटी होतीहुई जो मूर्तियां अंतिम साम तक फैलती हैं (जिन्हें ऋङ् मूर्ति भी कहते हैं) उनके समूह को महोक्थ समुद्र कहते हैं। तथा सब दिशाओं से केन्द्राभिमुख आते हुए अन्नरूप सोम का भक्षण करता हुआ उसमे तृप्त होताहुआ तथा सोम को अग्नि रूप में परिणत करता हुआ अग्नि समुद्र महाव्रत कहलाता है। इसी प्रकार अग्नि का जो भाग देव और भूत के लिए उपादान बनता है उसे पुरुष कहते हैं। ये तानों-महोक्थ, महाव्रत और पुरुष क्रमशः ऋक् साम और यजुः भी कहलाते हैं और इन्ही तीनों वेदों के सन्तनन को सहस्त्र नाम से कहा जाता है। इनमें से यह जो महाव्रत रूप से सर्वत्र व्याप्त है और सब ओर से आते हुए सोम अन्न का भक्षण करता रहता है वही यह त्रयी सूर्य प्राण इन्द्र हैं और इसी इन्द्र प्राण को विश्वामित्र प्राण कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है कि जब विश्वामित्र ऋषि पर प्रसन्न होकर इन्द्र ने उनसे वर मांगने के लिए कहा तब ऋषि ने यही मांगा कि हम आपको जान सकें। इस पर इन्द्र ने यह समझाया-हे ऋषे ! हम प्राण हैं, तुम भी प्राण हो, सब भूत भी प्राण हैं। यह जो तप रहा है (अर्थात् सूर्य) वह प्राण है। वह हम इसी प्राण रूप से सब दिशाओं में व्याप्त हैं। अन्न हमारा मित्र और दक्षिण (अनुकूल) है यह अन्न सोम रूप विश्व में व्याप्त प्राण से सदा संलग्न रहता है अतः मित्र है और इसीसे वैश्वामित्र कहलाता है। भृगु अंगिरा के प्रकरण में इसका विशेष विवरण हुआ है।

यही सूर्य प्राण इन्द्र अध्यात्म में आकर क्षेत्रज्ञ आत्मा कहलाता है। इसी की उपासना गायत्री मंत्र में की जाती है यह विस्तार से समझाया गया है। यही मनुष्य की आयु का कारण है। इसी की उपासना से इस प्राण से संलग्न भूतात्मा का प्रज्ञान भाग दोषों से मुक्त होकर स्वच्छ होकर अपने मुख्य प्रभव सूर्य में चला जाता है। यही मुक्ति है।

मनुष्य रूप जिस ऋषि ने इस प्राण का आविष्कार किया वे भी इसी नाम से अभिहित हुए। इस प्रकरण में बताया गया है कि ये ऋषि पहले विश्वरथ नाम के चन्द्र वंशीय राजा थे और महोदय में राज्य करते थे। तत्कालीन वसिष्ठ का ब्रह्मवीर्य जन्य माहात्म्य देखकर क्षात्र वीर्य को उससे अल्प मानकर तपस्या के द्वारा ये ब्राह्मण हो गये और विश्वामित्र प्राण के द्रष्टा होने

के कारण विश्वामित्र नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके पुत्र और शिष्य परम्परा भी इसी नाम से प्रसिद्ध हुई। अतः भिन्न भिन्न कालमें भिन्न भिन्न विश्वामित्र हुए। हरिश्चन्द्रोपाख्यान में वर्णित विश्वामित्र भिन्न थे। तथा रामचन्द्र के काल में भिन्न। विश्वामित्र मैथिल थे और वृहद् विष्णु पुराण तथा यामल सारोद्धार के मिथला खण्ड के अनुसार मिथिला में कौशिकी नदी के तट पर इनका आश्रम था। इन्ही की वंश परम्परा में उत्पन्न याज्ञवल्क्य महर्षि मिथिला में गौतम आश्रम के समीपवर्ती, जयन्तपुर से अति सन्निहित धनुर्यज्ञ महारण्य में निवास करते थे।

विश्वामित्र महा महर्षि थे। इनके ३७८ मन्त्र हैं तथा इनके पिता पितामह तथा पुत्र पौत्र परम्परा के आर्षेय ४३८ इस तरह कुल मिलाकर ८१६ मंत्र इन विश्वामित्रों के परिगणित हुए हैं॥ इति॥

विद्याधर का रास्ता,
जयपुर (राजस्थान)

१-६-६१

प्रद्युम्नशर्म्मा ओझा।



॥ श्रीः ॥

# विषय-सूची

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|



॥ इति ॥

॥ श्रीः ॥

ब्रह्मविज्ञाने

## दिव्यविभूतेः उपविभागे




### कश्यपः

(१) कश्यपात् सकलं जगदित्याहुः । तमेतं कश्यपं व्याख्यास्यामः—

(२) सूर्य्यकिरणानां परस्परसंघर्षणादुत्पन्नाः सूर्य्यकिरणस्थाना आपो मरीचय उच्यन्ते । तत्प्रत्यक्षकर्त्ता विद्वानपि यशोनाम्ना मरीचिरुच्यते । तस्य मरीचेर्विदुषःपुत्रः कश्चिद् विद्वानासीत् स कूर्म्मं नामादित्यमपश्यत् । येन रूपेणायमादित्यः सृष्टिं सृजति तद्रूपावच्छिन्नोऽयमादित्यप्राणसंघातः कूर्म्मः प्राणमयः सप्तपुरुषः पुरुषः प्रजापतिः, अतश्चैष कूर्म्मः प्रजापतिः । कश्यप-पश्वाकारो हि तद्रूपम् । तद्रूपावच्छिन्नस्तु प्राणो लोकत्रयानुविधैतद्दधिघृतमध्वात्म-करसत्रयसध्रीचीनो द्यावापृथिव्यः । एषां च रसानां त्रिलोकव्यापिनीष्वप्सु प्रविष्टैः सूर्य्यप्राणविशेषैः समन्वयात् परिपाकाच्च तत्र तत्र लोके प्रत्युत्पत्तिरिति मधुविद्यादिभिरवगम्यते । स एष कूर्म्मो नाम रसत्रयरूपाकारित एवादित्यप्राणः सर्वविधपिण्डजातानामुत्पत्तिहेतुरुपपद्यते ।

(३) तथा च वाजिश्रुतौ श्रूयते —

"सोऽयं पुरुषः प्रजापतिर्ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम् । सैवास्मै प्रतिष्ठाऽभवत्,तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत । सोऽपोऽसृजत ।

कच्छपशब्देन कमठशब्देन वा प्रसिद्धे पशुविशेषे रूढ़ः । कशामर्हति कश्यः स्कन्धाधस्तलदेशः कच्छ इति प्रसिद्धः । तेन पिवतीति वा कश्येन पादौ गोपयन्नात्मानं पातीति वा व्युत्पत्तेः । इत्थं चाकृतिसाधर्म्याद् द्यावापृथिव्ये कूर्म्मे कश्यपशब्दस्य, कश्यपे च तस्मिन् पशौ कूर्म्मशब्दस्य व्यतिषङ्गेन प्रवृत्तिः । अथवा मुख्ययैव वृत्या कश्यपशब्दः कूर्म्मो वर्तते । श्रूयते हि—"कश्यपः पश्यको भवतीति" वर्णव्यत्यासेन च शब्दसिद्धिं नैरुक्ता मन्यन्ते, द्रष्टृ-दृश्ययोरन्योन्यसाममण्डलभोगादेव दर्शनसंपत्तेर्दृश्योऽपि द्रष्टारं पश्यति साम्येनेति नियमाद् दृष्टिसिद्धस्यास्य द्रष्टृत्वोपपत्या पश्यकत्व-सिद्धिः । यत्तु वैयाकरणा आहुः— पशिरयमादेशो न धातुः । स चापि सार्वधातुकविषयो नार्द्धधातुके प्रयोगमर्हतीति । तत्तुच्छम । व्याकरणस्य सिद्धशब्दप्रतिपत्तावभ्युपायत्वेऽपि शब्दनिर्मापकत्वाभावात् । शब्दपरतन्त्रं हि व्याकरणम्, न त्विमे व्याकरणपरतन्त्राः शब्दाः इष्यन्ते । भाषाव्यवहारो हि व्याकरणे प्रमाणं भवति । तस्मिंश्च प्रमाणे दृष्टे न दृश्यते, लक्षणं चेत् तदकार्त्स्न्यं व्याकरणस्य मन्यामहे । दृश्यते तु पश्यतेर्धातोरार्द्धधातुकेऽपि क्वाचित्कः प्रयोगः— असूर्य्यं पश्या राजदारा इति । पशुरिति । पश्यक इति । पश्यकं सन्तं कश्यप इत्याचक्षते परोक्षेण । स हि दृश्यकपालस्थो नित्यं सर्वाः प्रजाः पश्यतीत्यत एव श्रूयते— "अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वेति" ॥

अथवा दूरस्थस्यापि सतो यदनया प्रजया नित्यं संबन्धस्तत्रेष्यते दृष्टिव्यवहारः । यथाहि— "आदेवो याति भुवनानि पश्यन्"— इति मन्त्रे सूर्य्यस्य द्रष्टृत्वं व्यवह्रियते तद्वत् । तेन दृश्यकपालस्थो द्रष्टा प्राणघनो जायमान प्रजासंबन्धात् कश्यप इति सिद्धम् ॥

(८) नानाजातीयाश्चैते प्राणा भवन्ति । तेष्वयं कश्यपः किं जातीय इत्यत्राह— "यः स कूर्म्मः असौ स आदित्य" इति । यस्य विभक्तयो द्वादशादित्या उच्यन्ते स एषां द्वादशानामेकः प्रजापतिः संवत्सरो नाम प्राण एवादित्यः । स सूर्य्यायतनो विभुः । तत एव संवत्सरादादित्यामादित्या उत्पद्यन्ते दित्यां दैत्याः । ते हैते कश्यपस्य पत्न्यावुपचर्य्येते सहधर्म्मित्वात् ॥

सूर्य्यः  अदितिः

(६) तत्र त

मूला, नक्षत्रमूला,
सूर्य्ययोरनवरोधेन सं
ऽवरोधेन संस्थानं दिति
सूर्य्यज्योतिपि गच्छ
मादित्यत्वं नियम्यते । ए
गच्छतामम्भसामसुरत्वं
सूर्य्ययोः सांमुख्ये दि
स्तेपामशेपाणां संमि
मन्त्रश्रुतिः श्रूयते—

"अदितिर्द्यौरदि
विश्वेदेवा अदि

अत्र पिता सूर्य

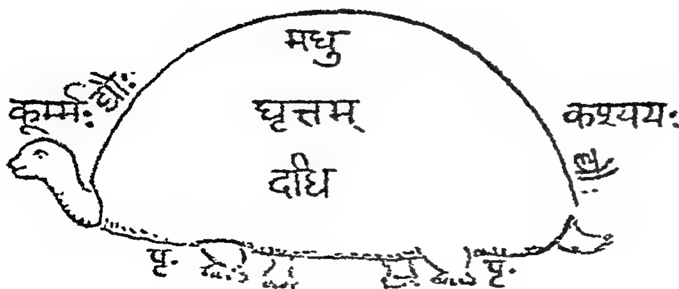
"द्यौः पितः पृ
विश्वेदेवा अदि

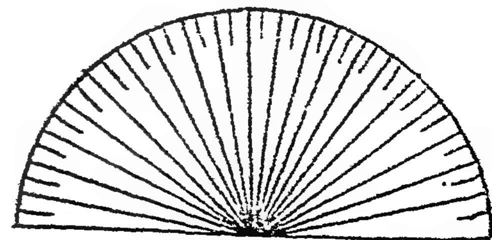
इति मन्त्रान्तरे
इत्थं चैवंविधेपु

सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत् । तत आण्डं समवर्त्तत । ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्य त त्रय्येव विद्या । मुखं ह्येतदग्नेर्यद् ब्रह्म । अथ यो गर्भोऽन्तरासीत् सोऽग्निः । अथ यत्कपालमासीत् सा पृथिव्यभवत् । तां संक्लिश्याप्सु प्राविध्यत् । तस्यै यः पराङ् रसोऽत्यक्षरत् स कूर्म्मोऽभवत्" ( ६।१।१ )

( ४ ) अपि च श्रूयते तत्रैव—

"रसो वै कूर्म्मः । यो वै स एषां लोकानाम् अप्सु प्रविद्धानां पराङ् रसोऽत्यक्षरत् स एष कूर्म्मः । यावानु वै रसस्तावानात्मा । स एष इम एव लोकाः । तस्य यदधरं कपालम् अयं स लोकः । तत्प्रतिष्ठितमिव भवति, प्रतिष्ठित इव ह्ययं लोकः । अथ यदुत्तरं सा द्यौः । तद् व्यवगृहीतान्तमिव भवति । व्यवगृहीतान्तेव हि द्यौः अथ ।यदन्तरा तदन्तरिक्षम् । स एष इम एव लोकाः । तमभ्यनक्ति दध्नामधुनाघृतेन । दधि हैवास्य लोकस्य रूपम् ,घृतमन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य । दधि हैवास्य लोकस्य रसो,घृतमन्तरिक्षस्य,मध्वमुष्य । स यत्कूर्म्मो नाम । एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत । यदसृजत अकरोत्तत् । यदकरोत् तस्मात्कूर्म्मः । कश्यपो वै कूर्म्मः । तस्मादाहुः—सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति । स यः स कूर्म्मः । असौ स आदित्यः । प्राणो वै कूर्म्मः । प्राणो



हीमाः सर्वाः प्रजाः करोति । द्यावापृथिव्यो हि कूर्म्मः । अवका अधस्ताद्भवन्ति,अवका उपरिष्टात् । आपो वा अवकाः " इति ॥

(५) इह हि कश्यपस्य द्यावापृथिवीभ्यामभिसंबन्धो लभ्यते । द्यावा-पृथिवीशब्दस्य च प्रवृत्तिर्यद्यपि दृश्यकपाला[1]ण्डकपाला[2]यतनसाम[3]शुक्र[4]भेदा[5]न् पञ्चलक्षणरहस्ये व्याख्याता,तथाप्यत्र संभवतो दृश्यकपालानुगते एव ते गृह्येते । तल्लक्षणं च श्रूयते हविर्यज्ञब्राह्मणे—

(६) तद्वा एष एव वषट्कारो य एष तपति । स उद्यन्नेवामू-मधिद्रवति । अस्तं यन्निमामधिद्रवति । तस्या अमुष्या अवस्ताल्लक्ष्म—चन्द्रमा नक्षत्राणि सूर्य्यः । अथोपरिष्टाल्लक्षणा पृथ्वी । तस्या अस्या उपरिष्टाल्लक्ष्म—ओषधयो वनस्पतय आपोऽग्निरिमाः प्रजाः" इति ।

(७) अयमत्राभिसन्धिः । क्वचिन् प्रान्तरे निरावरणप्रदेशेऽवस्थाय द्रष्टुः सर्वतः समतलमण्डलात्मकाधःकपालरूपया पृथिव्या संलग्नावनत-प्रान्तोन्नतमध्योर्ध्वकपाला नीलवर्णा हीयं द्यौर्दृश्यते । तथा च विसदृशकपाल-द्वयात्मिका सेयमुभयी द्यावापृथिवी सर्वस्यैतस्य दृश्यप्रपञ्चस्यावपनभूता भवति । तयोरूर्ध्वाधरकपालयोरन्तरतो यदावपनं तदन्तरिक्षम् । तथा चैतत् कपालद्वयाव-च्छिन्नं यदन्तरिक्षं तदवच्छिन्नो यः प्राणघनः स कूर्म्म इत्याह "द्यावापृथिव्यो हि कूर्म्म " इति । तद् द्रष्टुः स्थित्युपलक्षितभूमिबिन्दुस्तद् दृश्यान्तरिक्षा-वच्छिन्नस्य कूर्म्मप्राणस्य साक्षी भवति । तद्बिन्दुसाक्षिकः कूर्म्मस्तद्बिन्दूपलब्ध-जन्मनः प्राणिनो जन्मदाताऽवसीयते । यावदेव हि द्रष्ट्रा दृश्यतेऽन्तरिक्षं तदवच्छिन्नः प्राणघन एव तत्र जन्मोपधायकबिन्दौ संनिधत्ते । तद्देशे जायमान-स्तावतैव प्राणघनेन कृतात्मा भवतीत्यतस्तस्य प्राणघनस्य कर्तृत्वात् कूर्म्मशब्देन व्यपदेशः । कश्यपाकृतिश्च स नित्यं दृश्यते । तस्मादसौ लक्षणया कश्यप-शब्देनापि व्यपदिश्यते । यद्वा यथाकृतिः कश्यपस्तथाकृत्या संनिविष्टः प्राणः कश्यपो वेदितव्य इत्युक्तं भवति । एष च कश्यपशब्दःवषट्कारः स्वरूप-समर्पकः ।

# अदितिदृष्टिमूला ।




(१०) अथ द्रष्टृस्थित्युपलक्षितभूमण्डलोपलक्षितामेके तामदितिमाहुः । तेषां मते सर्वत्रैवाण्डकपालस्यार्द्धस्य दृश्यत्वमदितिरर्द्धस्य चान्यस्यादृश्यत्वं दितिः । तेनैतस्याः क्रमेण प्राचीमनुसरन्त्या रात्रावपि सत्तोपपद्यते । उक्तरीत्या सूर्य्यनित्यायाः स्थिरादित्या अभ्युपगमे तु —

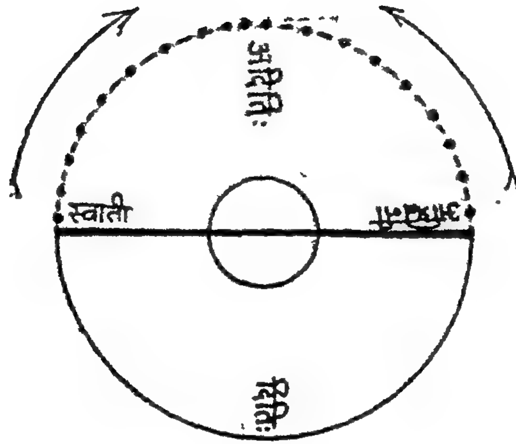
"अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि ।
देवाँ उपप्रैत् सप्तभिः परा मार्तण्डमास्थत्" (          )
सप्तभिः पुत्रैरदितिरुपप्रैत् पूर्व्यं युगम् ।
प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर्मार्ताण्डमाभरत्" (          )

इति मन्त्रद्वयोक्तयोः सूर्य्यत्यागपुनराहरणयोरसंभवापत्तेः । तथा चैतस्या अदित्याः सर्वां पृथिवीं, सर्वां दिवं, सर्वं चान्तरिक्षं संसर्पन्त्याः सर्वात्मकत्वं संपद्यते । तथा च श्रूयते —

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्म्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्" इति ।

"इयं वै पृथिव्यदितिः" (          ) इति च ॥ २ ॥

# अदितिर्नक्षत्रमूला ।




(११) अथान्ये पुनरेकस्मिन् संवत्सरे सूर्य्येण त्रयोदशकृत्वश्चन्द्रमण्डल-संयोगात्तत्संयोगबिन्दुविभक्तासु त्रयोदशसु चन्द्रकक्षाखण्डरूपासु दाक्षायणीषु कश्यपस्त्रीत्वेनाध्यवसितासु नित्यामेव कांचिदचलामदितिमाचक्षते । तदायतनं श्रूयते — "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आददे नार्य्यसि" — इति स्वातीतारकोदये रेवत्यामस्तंगतायामनस्तंगतायां चाश्विनीतारकायां यः खस्वस्तिकबिन्दुश्चन्द्रमार्गस्थः सा हीयमदितिर्नाम । तेन पुनर्वसुनक्षत्रस्य तृतीयचरणमदित्याः स्थानं सुप्रतिपन्नं भवति तस्यैव तदानीं खस्वस्तिक भूतत्वात् । तद्वैपरीत्येन च निचृत्तारासन्नबिन्दोर्दितित्व-मास्थेयम् तस्यैव तदानीमधःस्वस्तिकत्वात् । अन्याश्चैवमेकादशमिता दक्षसंज्ञकचन्द्रमार्गविभक्तयः कश्यपस्य सहयोगिन्यः कल्प्यन्ते, तदन्यत्र निरूपितम् ॥ ३ ॥

# अदितिराकाशमूला ।

(१२) अथवा अश्विनीमारभ्य चित्रान्तमाकाशमण्डलं दैवसंपत्त्या-ऽन्वितम् । अत्र हि मध्यस्थाया अदित्याः सप्त पुत्रा आदित्या नामोपपद्यन्ते । तेषामदितिपर्य्यन्त उद्ग्राभः । ततः पश्चान्निग्राभः । उद्ग्राभे यज्ञाः प्रवर्तन्ते । अदितिमध्य हीदमाकाशमण्डलमुपलक्षणया अदितिर्विवक्ष्यते । तद्व्यतिरिक्तं तु स्वात्यारब्धरेवत्यन्तमाकाशार्द्धं दित्युपलक्षितमासुरसंपत्त्यान्वितं दितिर्विवक्ष्यते एताभ्यामेव द्वाभ्यां पत्नीभ्यां दित्यदितिभ्यां संयुज्यमानः स सूर्य्यसंवत्सरो नाम सर्वेषां जनयिता प्राणो यया संस्थया सर्वमिदं यथायथं जनयति तादृशसंस्था-वच्छिन्नः कश्यप इत्युच्यते—इति सिद्धम् ।

(१३) स एष कश्यपः प्राणो नान्तरेण भूतसंबन्धमनाश्रितः क्वचिदवतिष्ठते इत्यत आह— "अवका अधस्ताद् भवन्त्यवका उपरिष्टादिति" । अप्सु ह्येष कश्यपः प्रचरति तस्यावस्तादुपरिष्टाच्चापोभवन्ति । एवमयं प्राणो नित्य-मद्भिः सम्पद्यमानः प्रचरति । ताश्चैता आपश्चतुर्विधा ऐतरेयके श्रूयन्ते— "अम्भो मरीचयो मर आप"इति । "अदोऽम्भः परेणदिवं, द्यौः प्रतिष्ठा ॥१॥ अन्तरिक्षं मरीचयः ॥२॥ पृथिवी मरः ॥३॥ या अधस्तात् ता आपः" ॥४॥ इति ।

तत्रैष कश्यपो मरीचिभिः क्लृप्तशरीरो भवति । अत एवैनं मरीचिसुतं मारीचमाहुः पौराणिकाः । मरीचयश्चैताः सवित्राकृष्टाः सूर्य्य-रश्मिस्था आपः ।

"सूर्य्यो मरीचिमादत्ते सर्वस्माद् भुवनादधि" एता वा आपः स्वराजो यन्मरीचयः" । इत्यादि श्रुतेः ।

ताश्चैता मरीचयो लोकेभ्यस्त्रिभ्यः समाकृष्टैर्दधि – घृत-मधुभिः संश्लिष्य रसमय्यः संपद्यन्ते । या अधस्तादपां ता घनीभूतत्वाद् दधिमय्यः । मध्ये च द्रवाः स्निग्धा घृतमय्यः । अथ या उपरिष्टात्ताविरला–

वयवाः स्वादिष्टाः मधुमय्यः । एतानेव रसाननवरतं सिञ्चन्नसौ भगवान् कश्यपात्मा प्राणः । सर्वमिदं चराचरमेतैरेव दधि-घृत-मधुभी रसैः कृतशरीरं जनयति । सर्वेषामेव प्राणिनां शरीराणि दध्ना घृतेन मधुना चोत्पद्यन्ते, कठिन प्रायैर्द्रवप्रायैः पवनप्रायैश्चाङ्गैः संपन्नत्वात्, मांसेन श्लेषणीय वसारसेन शर्कराभिः स्पष्टमुपपन्नत्वाच्च । पुनश्चैतानुपाहरन्नात्मसात् कुर्वन् स एतत्रिरसमय-मेव सर्वदा रूपं धत्ते । तदाह— "यावानु वै रसस्तावानात्मा" इति । स यावदस्मिन् दधिरसस्तावानयं लोकः, यावद् घृतरसस्तावदन्तरिक्षम् । यावद्वा तस्मिन् मधुरसस्तावानसौ लोकः । तदाह—"स एष इम एव लोकाः" इति । अत एव त्रयो रसा अद्भ्यः शरीर निर्म्माणे साधन द्रव्यम् । तैरेव रसैः कृतशरीरः सर्वः शरीरेण संयुज्योत्पद्यते इत्यत आह–"सर्वाः प्रजाः काश्यप्य" इति । कश्यपेनोत्पादिते वसिष्ठादिभिर्विशेषा आधीयन्ते । स एष कश्यपो जनकः सर्वेषां देवमनुष्याणां तिरश्चां च भूतानाम् । तदित्थमयं सर्वजनको रसत्रयात्मा मारीचोऽर्द्ध मण्डलाकारः संवत्सर प्राणघनः कश्यप इति निष्कर्षः । तमेतं कूर्म्मं कश्यपं पश्यन् ऋषिरभ्यनूवाच—

"अपां गम्भन्त्सीद, मा त्वा सूर्योऽभि ताप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः ।
अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्व,अनुत्वा दिव्या वृष्टिः सचताम्" ॥
"त्रीन् समुद्रान् समसृपत् स्वर्गानपां पतिर्वृषभ इष्टकानाम् ।
पुरीषं वसानः सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परे ताः" ॥२॥

"एतद्ध्यपां गम्भिष्ठं यत्रैष एतत्तपति । इमा वै सर्वाः प्रजास्ता-अरिष्टा अनार्त्ता अनुवीक्षस्व ! इमे वै त्रयः समुद्राः स्वर्गालोकाः । तानेष कूर्म्मो भूत्वाऽनुसंससर्प । पशवो वै पुरीषम् । पशून् वसानः"—
इति हि तद् ब्राह्मणं भवति एष खलु कश्यपप्राणः पश्यकोऽस्तीति रसत्रय-दृष्ट्याऽनवरतं सर्वाः प्रजा अनुवीक्षते । इत्येकमस्य व्रतं भवति ॥१॥

अपिच "यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ति सरूपाः । तथाऽक्षराद् विविधाः सौम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति"॥

इति श्रुतेरपरिमितादक्षरतो योगमायापरिमितोऽक्षरभावः प्रजायते । स वाङ्मयः । मनोमयप्राणगर्भितायां वाचोविश्वव्यापित्वाद्दतरूपत्वेपि योगमायावच्छेदात् सत्यरूपेणोत्पत्तौ तद्धृदये ब्रह्मप्रजापतेः प्राणेस्य संघर्षाद् वाचोविकारेणापामुत्पत्तिः । तासां पुनरन्तरान्तरतो घनीभावक्रमेण त्रयः समुद्राः समपद्यन्त आपो वायुः सोम इति । एष च सोमो घनीभूतप्राणसंघर्षेण प्रज्वलन्नपां हृदयेऽग्निः प्रादुर्भवति सोऽग्निसाहस्री सूर्य्यो भवति । तस्यैतस्य सूर्य्यस्य षट्पर्वा संस्था समपद्यत । सर्वान्तरतो हिरण्मयप्राणघनो बिम्बः । तद्बहिः परितो ज्योतिःसंस्था । तद्बहिः परितः सोमेन वायुना अद्भिश्चोपपन्ना समुद्रत्रयसंस्था । तद्बहिर्वाचःसंस्थेति । तत्रैतांस्त्रीन् समुद्रानेष कश्यपप्राणोऽनुसंससर्प । इतिद्वितीयमस्य व्रतंभवति ॥ २ ॥

अथ सूर्य्यादिप्राणमलभूतैः पशुभिरयं पर्य्यावृतो भवतीति तृतीयमस्य व्रतं भवति ॥ ३ ॥

स इत्थमयं कूर्म्मप्राणोऽन्तरिक्षद्यवि सूर्य्यद्यवि सोमद्यवि च संनिविष्टो व्याख्यातः ।

अपिच—"कश्यपस्य स्वर्विदो यावाहुः स युजाविति । ययोर्विश्वमपि व्रतं यज्ञं धीरा निचाय्य" इति मन्त्रवर्णः श्रूयते । तत्र द्यावा पृथिव्योर्वा मित्रावरुणयोर्वा सयुक्त्वं द्रष्टव्यम् । ज्योतिर्विदां समये तूत्तरा स्वर्गमण्डले भवत्येका काश्यपतारा द्वाभ्यां ताराभ्यां संयुक्ता । "अग्निः पुच्छस्य प्रथमं काण्डं तत इन्द्रस्ततः प्रजापतिरभयं चतुर्थम्" इति श्रुतावपि कश्यपस्यैव प्रजापतिशब्देनाभिधानमिति दिक् ।

## कश्यपो नामान्यो वेदमन्त्रकृन्मनुष्य ऋषिः !

( १४ ) तदित्थमेतत्कश्यपप्राण द्रष्टरि कस्मिंश्चिद्विदुषि कश्यपशब्दो भक्त्या प्रयुज्यते । तदिदमेतस्य विदुषः कश्यपप्राणद्रष्टृत्वनिबन्धनं यशोनामावगन्तव्यम् । स चायं मनुष्यविधः कश्यपो महर्षिः स्वर्गलोकस्थ एवासीत् । "कश्यपस्य स्वर्विदो या बाहुः सयुजाविति" मन्त्रश्रुत्या तथावगतेः ।

स्वर्गप्रदेश च तस्याश्रमो ब्रह्मपरिषत्स्थानं वा कुत्रासीदिति विशिष्य न श्रूयते। पौराणिकास्तु— पामीरनाम्नः प्राग्मेरोः पूर्वेण विकङ्कमणिशैलयोः पर्वतयो-रन्तरद्रोण्यां चम्पकवनं प्रागासीत्। तत्रैतस्य कश्यपस्य प्रजापतेराश्रमो ब्रह्मपरिषद्वा बभूवेत्याहुः। तथा च वायुपुराणम् —

"विकङ्कस्याचलेन्द्रस्य मणिशैलस्य चान्तरे।
विपुलं चम्पकवनं सिद्धचारण सेवितम् ॥१॥
तत्राश्रमं भगवतः कश्यपस्य प्रजापतेः।
सिद्ध साध्यगणाकीर्णं नानाश्रुति विभूषितम्" ॥२॥ इति (पु.अ.३७)

---

## काश्यपी मन्त्रसंहिता।

(१५) तत्र निवसता भगवता कश्यपेन प्रणीतैका मन्त्रसंहिता दृश्यते। तस्यां च कश्यपसंहितायां कश्यप एकः, कश्यपपुत्रा अष्टौ, योषितौ द्वे इत्येवमेकादशर्षयो भवन्ति। तत्र तावदयं कश्यपो मारीचः एकोत्तरर्चेन सूक्तसहस्रेण वा त्रिष्टुभैकया वा जातवेदसं नामाग्निं ततोऽपरैर्बहुभिः सूक्तै-रिन्द्रं च तुष्टाव। "द्व्यृचाद्या सहस्रर्चान्तं सूक्तं नानाविधं भवेत्। नव नवतिः पञ्चलक्षा ऋचः स्युः स चतुः शतम्"। जातवेदस्यं सूक्तसहस्रमेके ऐन्द्रात्पूर्वं कश्यपार्षं वदन्ति। जातवेदसे सूक्तमाद्यन्तु तेषामेकभूयस्त्वं मन्यते शाकपूणिः" । इति बृहद्देवतायां शौनकोक्तेः(५००४६६)
दशभिर्विश्वान्देवान् एकपञ्चाशता पवमानं तुष्टावेति द्वापष्टिमन्त्रंकश्यपार्षं प्रथमं पर्वं ॥ ६२ ॥ अथासितदेवलौ काश्यपावेकादशभिराप्रियमग्निं, द्वापञ्चाशेन शतेन पवमानं तुष्टुवतुः। त्रिषष्ट्यधिकशतमसितदेवलार्षम् ॥ १६३ ॥ अवत्सारः काश्यपः पञ्चदशभिर्विश्वान्देवान्, । द्वात्रिंशता पवमानमिति सप्तचत्वारिंशता वत्सारार्षम् ॥ ४७ ॥ निध्रुविस्त्रिंशता पवमानं रेभः पञ्च-सूनुदशभिरिन्द्रं, रेभ काश्यपौ सप्तदशभिः पवमानं, विवृहापड्भिर्यक्ष्मघ्नं

भूतांश एकादशभिःरश्विनौ, द्वे शिखण्डिन्यौ, काश्यप्यावप्सरसौ षड्भिः पवमानं तुष्टावेति (८५) पञ्चनवत्यधिकशतद्वयेनोत्तरं कश्यपार्षं द्वितीयंपर्व ॥ २६५ ॥ तदित्थं सप्तपञ्चाशानित्रीणि शतानि काश्यपी संहिता पूर्णा। (३५७)

(१६) स एष वेदग्रन्थः स्वर्ग्यः स्वर्गागतो द्रष्टव्यः। तन्निर्म्मातुः कश्यपस्य महर्षेः स्वर्गनिवासित्वाद्, अत्रवर्णनीयानां मनुष्यदेवानां भौमस्वर्ग-वासित्वात्, प्राणदेवानां सूर्य्यस्वर्गवासित्वाच्च। यद्यपि कश्यपस्यारिष्टनेमिरिति नामान्तरं पौराणिके स्मर्य्यते किन्तु कश्यपोऽरिष्टनेमिरित्येतौ पर्य्यायवाचिनौ न। स्थेयौ। अरिष्टनेमेर्यदृच्छाशब्दत्वात्। कश्यपशब्दस्तु गोत्रनिबन्धनो जातिशब्दः। त्रयोदशकश्यपावभूवुः तेषामेकः कश्चित् अरिष्टनेमिःस्यात्। प्रकृते तु नायमरिष्टनेमिकश्यपः षष्टिमितासु दक्षकन्यासु त्रयोदशानां कश्यपाय, चतसृणांत्वरिष्टनेमिने पार्थक्येनप्रदानाख्यानात्। तस्यादयमज्ञातनामाकश्चित् कश्यपो ध्येयः ॥इति॥

**सोऽयमैतिहासिको वैज्ञानिकश्च द्विविधोऽपिकश्यपो व्याख्यातः ॥**

॥ इति कश्यपः ॥



अनेन सरस्वतीनद्याः उभयपार्श्वयोः संनिविष्ठा काचिदयःप्राकारोपेता सरस्वतीनाम्नी नगरी लक्ष्यते। तन्नगर्य्या मध्यतो रथ्येवेयं सरस्वती प्रवहतिस्म। तत्कूलोपाश्रये च वसिष्ठस्य गृहं तत्रासात्। स च वसिष्ठस्तत्रासन्ने प्रतिष्ठान-पुरनिवसतो नाहुषस्य महाराजस्याय पुरोधा यज्ञकर्तासीत्। अत एव स नहुषं बाल्ये प्रतिपालयन् नाहुषराजत्वकालपर्य्यन्तं जीवित आसीत्। तेनैवेयं मन्त्र-संहिता प्रणीतेत्यतो नाहुषकाल एवास्य वसिष्ठस्य जीवनकाल इत्येतदर्थजातं विज्ञातं भवति। अधिकं चात्र भारतख्यातौ द्रष्टव्यम्॥ ४॥

## जन्म-निरूपणम्।

एष चादिवसिष्ठः कस्य पुत्र आसीदिति नावधार्यते। यत्वयमादिब्रह्मणः पुत्र आसीदिति पौराणिका आहुः। तन्न। ब्रह्मणो मानसपुत्रत्वेन वसिष्ठ-स्मरणात्। तावता औरस पुत्रत्वाप्रतिपत्तेः। अन्यौरसानामेव हि ब्रह्मणा पुत्रत्वेन प्रतिगृहीतानां मनसा पुत्रत्वेन भावितानां मानस पुत्रत्वमिष्यते। तस्मादस्य ब्रह्मगृहीतमानसपुत्रत्वे स्थितेऽपि ब्रह्मौरसपुत्रत्वं नाध्यवसातुं शक्यम्। ब्रह्मौरसपुत्रत्वेनाथर्वाङ्गिरादिवदस्य वसिष्ठस्य विशिष्याश्रूयमाणत्वात्। परे तु वसिष्ठमत्स्यागस्त्यानां मित्रावरुणाभ्यां देवाभ्यां गन्धर्विण्यामुर्वश्या-मुत्पादितत्वात् मैत्रावरुणित्वं वेश्यापुत्रत्वं चा चक्षते। तथाहि—

"विद्युतो ज्योतिः परि संजिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।
तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत् त्वा विश आजभार॥" (ऋ. ७/३३/१०
सत्रे ह जाता विषिता नमोभिः कुम्भेः रेतः सिषिचतुः समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्॥ (ऋ. ७/३३/१३)

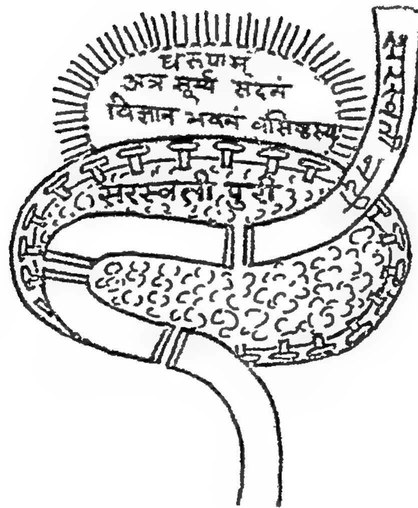
इतिश्रवणात्

विद्युज्ज्योतिः परित्यजन्तं वसिष्ठं यदागस्त्यः स्वसंनिवेशायाजहार तदा-ऽगस्त्येन सहैवायं प्रजापतिपुत्रो वसिष्ठः पूर्वशरीरं परित्यज्योर्वश्यां जज्ञे।

# आश्रमनिरूपणम् ।

अनेन सरस्वतीनद्याः उभयपार्श्वयोः संनिविष्टा काचिदयः प्राकारोपेता सरस्वती नाम्नी नगरीलक्ष्यते । तन्नगर्य्या मध्यतो रथ्येवेयं सरस्वती प्रवहतिस्म । तत्कूलोपाश्रये च वसिष्ठस्य गृहं तत्रासीन ।

आश्रम :—



# वसिष्ठः

## नाम-निरूपणम् ।

(१) वसिष्ठ इति ऊर्जाशक्तिमति प्राणविशेषे रूढः शब्दस्तत्प्राणद्रष्टरि पुरुषविशेषे तद्वंशधरे च भक्त्या प्रयुज्यते । तस्येदं यशोनाम विद्यात् । वसिष्ठप्राणद्रष्टृत्वयशसैव तत्र वसिष्ठशब्दस्य लोके प्रसिद्धेः । तद्वंशधरे तु व्यक्तिमात्रे योनिसंबन्धाद् वासिष्ठशब्दो गुणसम्बन्धाद् वसिष्ठशब्दश्च प्रवर्तते । वसिष्ठेति यशोनाम्ना चिरप्रख्यातेरस्यादिवसिष्ठस्य वैधं मातापितृकृतं याहच्छिकं नाम न क्वापि स्मर्यते इति व्यवहाराभावाच्चिरेण विलुप्तमेवाभूत् । यत्तु- " आपव " इति वा " आप्सव " इति वास्य प्राचीनं नामान्तरं स्मर्यते,तदप्यान्तरिक्षस्य तारारूपस्यैव नाम स्यात । तस्याप्सुत्पत्तेरद्भिर्गुणविशेषसंबन्धाच्च, न त्वस्य मनुष्यविधस्य तादृशं नाम सम्भाव्यते इति बोध्यम ।।

## आश्रम-निरूपणम् ।

(२) एष च वेदमन्त्रद्रष्टा महर्षिर्वसिष्ठः पुरा कुत्र देशे निवसितस्मेति चिन्त्यते । तत्रास्य वसिष्ठस्य –

क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः स चावहे यदवृकं पुरा चित् ।
बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते ।। (ऋ. ७/८८/५)

इत्यादि श्रुतेः-वरुणदेवेन सह सख्यसंस्तवाधिक्यश्रवणात् वगस्थितोऽयं स्यादिति केचित् । तन्न, मनुष्यलोकस्थस्याप्यस्य स्वर्गे गमनागमनयोगाद् वरुणेन संस्तवसंभवात् । " प्र मे पन्था देवयाना अदृश्रन् " इति वसिष्ठोक्त्या वसिष्ठदृष्टानां देवयानानां दूरदेशान्तरस्थत्वप्रतिपत्त्या वसिष्ठस्य स्वर्गेतरदेशस्थत्वावगमाच्च ॥ १ ॥

भारतवर्षे पुष्करतीर्थसंनिधावर्बुदाचले तदाश्रम आसीद् इति परे ।

तदपि नातीव युक्तम् । वसिष्ठवंश्येष्वपि वसिष्ठशब्दप्रयोगादुत्तरकालिकस्य कस्यचिद्वसिष्ठस्य तत्राबुर्दाचले तपःस्थानत्वसंभवेऽपि वेदमन्त्रद्रष्टुरादिवसिष्ठस्य तत्राश्रमे प्रमाणाभावात्। यद्ययमर्बुदगिरावभविष्यत् तर्हि ध्रुवमयमर्बुदमपि मन्त्रे न्यरूपयिष्यत् ॥ २ ॥

परे तु पुरूरवःपौत्रस्यायुपुत्रस्य नहुषस्य सिन्धुनदात् पश्चिमप्रान्ते पञ्चगौर-प्रदेशीये प्रतिष्ठानपुरे जन्मवतोऽतिसंनिहिते वसिष्ठाश्रमे शैशवकालीन परिचर्य्यालालनपालनादिस्मरणात् सिन्धुनदपश्चिमे आर्य्यायणदेशे क्वचिदस्य निवास आसीत् । अत एव बाह्लीकनगराधिष्ठात्रा राज्ञा वरुणेनास्य संस्तवोऽप्यत्र-कल्पत इत्याहुः ॥ यत्तु प्रयागसंनिधौ प्रतिष्ठानपुरमासीदिति बहवः प्रतिपद्यन्ते तद् भ्रान्तमिति भारतख्यातौ सुविशदं निरूपितम् ॥ ३ ॥

वस्तुतस्तु सिन्धुनदादतिसंनिहिते पूर्वभागे सरस्वतीनद्याः कूले सूर्य्यसन्दिरप्रतिष्ठापकस्यास्य मन्त्रद्रष्टुर्वसिष्ठस्य निवास आसीदिति सप्तममण्डलस्य पञ्चनवतितमसूक्तादवगम्यते । ( ७ म ९५ सू. )

७ ६ ५ ८ ३ ४ ४ १ २
प्रक्षोदसा धायसा सस्र एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः ।
१४ १५ १६ १७ ११ १२ १३ ६ १०
प्र बाबधाना रथ्येव याति विश्वा अपो महिना सिन्धुरन्याः ॥१॥

३ ८ ४ १ २ ७ ५ ६
एकाऽचेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आसमुद्रात् ।
१२ १३ ११ ११ १४ १५ १६ ६
रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर्घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय ॥ २ ॥

२ ३ ५ ६ ४ ८ ७ १ ६
* इमा जुह्वाना युष्मदा नमोभिः प्रतिस्तोमं सरस्वति जुषस्व ।
११ १२ १० १३ १७ १८ १४ १५ १६
तव शर्म्मन् प्रियतमे दधाना उपस्थेयाम शरणं न वृक्षम् ॥५॥

---

* इमा हवींषीत्यर्थः । जुह्वानाः वयमितिशेषः । आ उपसर्गश्रुतेर्योग्य-क्रियाध्याहारः । आददीमहीत्यर्थः धनानीति शेषः ।

१ ८ ७ ६ ४ २ ५ ९

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः ।

१२ ११ १० ३ १५ १६ १४ १३ १७

द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाऽददन्त"

(ऋ ७/३३/११)

"अप्सरसः परिजज्ञे वसिष्ठः !" (ऋ/७/३३/१२)

इति मन्त्रश्रवणादादिब्रह्मणो जन्मस्थाने पुष्करे दैव्येन ब्रह्मणा संपन्नस्योर्वश्यां स्कन्नस्य मित्र,वरुणोभयरेतोद्रप्सस्योत्पन्नं पुरुषं वसिष्ठत्वेन सर्वे देवा अगृह्णन्निति स्वयं वसिष्ठेन वसिष्ठपुत्रेण वेन्द्रेण वोक्तत्वात् तथावगच्छन्ति । स्मरन्ति च शौनकादयः —

"तयोरादित्ययोः सत्रे दृष्ट्वाऽप्सरसमुर्वशीम् ।
रेतश्चस्कन्द तत्कुम्भे न्यपतद्वासतीवरे ॥ १ ॥
तेनैव तु मुहूर्तेन वीर्य्यवन्तौ तपस्विनौ ।
अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च तत्रर्षी संबभूवतुः ॥ २ ॥
बहुधा पतितं रेतः कलशे च जले स्थले ।
स्थले वसिष्ठस्तु मुनिः संभूत ऋषिसत्तमः ॥ ३ ॥
कुम्भे त्वगस्त्यः संभूतो जले मत्स्यो महाद्युतिः ।
उदियाय ततोऽगस्त्यः शम्यामात्रो महातपाः ॥ ४ ॥
मानेन संमितो यस्मात्तस्मान्मान्य इहोच्यते ।
यद्वा कुम्भादृषिर्जातः कुम्भेनापि हि मीयते ॥ ५ ॥
कुम्भ इत्यभिधानं च परिमाणं च लक्ष्यते ।
ततोऽप्सु गृह्यमाणासु वसिष्ठः पुष्करे स्थितः ।
सर्वतः पुष्करे तं हि विश्वेदेवा अधारयन् ॥ ६ ॥" इति ।

तस्मादमोघवीर्य्ययो र्मित्रावरुणयो र्देवयोरादित्यसत्रे समागतयोरुर्वशीं प्रति दृष्टिपातात् सहैव रेतः स्कन्दनात् तस्य च रेतसो यज्ञियकुम्भे वासतीवरे त्रेधा निपतनान् त्रयस्ते पुरुषाश्रजायन्तेति मैत्रावरुणित्वमेषामुपपद्यते। उर्वश्याश्च कामासक्तायास्तत्र रेतसि मनोयोगादेषामुर्वशीपुत्रत्वमित्याहुः।

तदेतदप्य वैज्ञानिकम्। चतुष्टयी तावदस्यर्षि शब्दस्य प्रवृत्तिः असल्लक्षण[1] रोचना[2] लक्षणा द्रष्टृत्वलक्षणा[3] वक्तृत्वलक्षणाचेति[4]।

१– असल्लक्षणां तावन प्राणानामृषित्वमाहुः—

असद्वा इदमग्र आसीत् किं तदसदासीदिति।

ऋषयो वा व तेऽग्रेऽसदासीत्। के ते ऋषयः इति प्राणा वा ऋषयः" इति श्रुतेः।

"साकं जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद् यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषा मिष्टानी विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः।।"

(ऋ १/१६४/१५) इतिमन्त्रवर्णाच्च।।

प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः, यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठः।
अथो यद्वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः ।। १ ।।

मनो वै भरद्वाज ऋषिः अन्नं वाजः। यो वै मनो बिभर्ति सोऽन्नं वाजं भरति। तस्मान्मनोभरद्वाज ऋषिः ।। २ ।।

चक्षुर्वैजमदग्नि ऋषिः। यदनेनजगत्पश्यति अथो मनुते तस्याच्चक्षुर्जमदग्नि ऋषिः ।। ३ ।।

श्रोत्रंवैविश्वामित्र ऋषिः। यदेनेन सर्वतः शृणोति, अथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्रऋषिः ।। ४ ।।

वाग् वै विश्वकर्मऋषिः। वाचा हीदं सर्वं कृतं तस्माद्वाग् विश्वकर्म ऋषिः। इत्यादिवचनश्रवणाच्च।

२—अपिच रोचना लक्षणं ताराणामृषित्वमाहुः । तथा च श्रूयते—

"सप्तर्षीनु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते ।

अमी ह्युत्तरा हि सप्तर्षय उद्यन्ति" इति ।

यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः, इत्यादि ।

अत्रोत्तरस्यां दिशि व्योम्नि ध्रुवतारासंनिधाने दृश्यमानानां स्थूलानां सप्ततारााणामेव मरीच्यादिसप्तर्षित्वेन विवक्षा दृश्यते । तत्र चत्वारश्चतुरस्रक्षेत्र कोणस्थाः, ततोऽन्ये त्रयः पूर्वतो निविष्टाः । तेषु त्रिषु यः सर्वतः प्राच्यां दृश्यते स मरीचिः यः पश्चिमश्चतुरस्रसंनिहितः सोऽङ्गिराः । तयोर्मध्यगतो वसिष्ठोऽरुन्धतीसहितः, चतुरस्रे पुत्वङ्गिरसः संनिधावत्रिः । ततोऽन्ये पुलस्त्य-पुलह-क्रतवः इति पौराणिका आहुः । तदनुसारेण ज्योतिर्विदोऽप्याहुः । यथा बृहत्संहितायाम्—

पूर्वे भागे भगवान् मरीचिरपरे स्थितो वसिष्ठोऽस्मात् ।

तस्याङ्गिरास्ततोऽत्रिस्तस्यासन्नः पुलस्त्यश्च ॥ १ ॥

पुलहः क्रतुरिति भगवानासन्नानुक्रमेण पूर्वाद्याः ।

तत्र वसिष्ठं मुनिवरमुपाश्रिताऽरुन्धती साध्वी ॥ २ ॥ ( अ. १३ )

एवमन्येऽप्युत्तरस्यां दिशि मार्कण्डेयकश्यपादयो मध्याकाशे बृहस्पति मत्स्यादयोऽप्राच्यामगस्त्यादयस्ताराविशेषा ऋषित्वेनेष्यन्ते ।

३— अपिच द्रष्टृत्वलक्षणं मन्त्रकृतां मन्त्रविदां मन्त्रपतीनामनूचानानां मनुष्याणामृषित्वमाहुः ।

यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिण अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण ।

तां देवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके । इति ।

नमोऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः । इति ।

मा मामृषयो मन्त्रकृतो मन्त्रविदः प्रादुर्दैवीं वाचम्" इत्यादि श्रवणात्।

"यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिः" इति शतपथब्राह्मणश्रवणाच्च। "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः" इति निरुक्तस्मरणाच्च। "अजान् ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भु अभ्यानर्षत्। तदृषीणामृषित्वमिति" यज्ञेन वाचः यदवीयमायंस्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।" इति। तद्वा ऋषयः प्रतिबुबुधिरे य उ तर्हि ऋषय आसुः—" इति। अग्निः पूर्वेभि ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति" इत्यादि श्रुतिनिदर्शनेषु प्रयुक्त ऋषिशब्दः साक्षात्कृतधर्मसु प्राणानां विद्वत्सु मनुष्यविशेषेष्वेव प्रवर्तते ॥३॥

४– अपि चान्यन्मान्त्रवर्णिकमृषित्वं वाक्यसापेक्षम्। यस्य वाक्यम् स ऋषिः, या वाक्यनोच्यते सा देवतेति परिभाषितत्वात्। मन्त्रो हि वाक्यं, वाक्यसमुदायो वा। स येनायं मन्त्रोऽर्थं दृष्ट्वोपदिष्टः सोऽस्य मन्त्रस्य ऋषिरुच्यते। ऋषिभिरेवैते मन्त्राः पुरोपदिष्टाः। तस्मात् पारोवर्य्यविदोऽमी ऋषय एवैतेषां मन्त्राणां वक्तार ऋषयः प्रायेण दृश्यन्ते। क्वचित्वनृषयोऽपि वक्तृत्वेन विवक्षणादेषामृषयो निर्दिश्यन्ते। तत्रेदं वक्तृत्वलक्षणं गौणमृषित्वं द्रष्टव्यम्। तथाहि पञ्चविधो मन्त्राणां वर्गो भवति—भाववृत्तं[1], देवस्तवः[2], वक्त्रात्मस्तवो[3], देवात्मस्तवः[4], कयोश्चित्संवादो[5] वेति। सृष्टिक्रमनिरूपणं भाववृत्तम्, प्राणदेवानां स्वरूपधर्मप्रदर्शनं देवस्तवः। तयोरयं मन्त्रप्रणेतैव ऋषिः, द्रष्टृत्वाच्च वक्तृत्वाच्च। देवता तु तत्र सृष्टिविषयो वा प्राणदेवा वा। अथ वक्त्रात्मस्तवेऽपि अयं मन्त्रप्रणेता आत्मानं स्तौतीति स एव स्यादृषिश्च देवता च। अथ चतुर्थे देवात्मस्तवे तु मन्त्रप्रणेता प्रतिपाद्यं देवं तद्देवमुखेनैव स्तावयति। तत्र तस्य प्राणदेवस्यैव वक्तृत्वेन विवक्षणात् स एव ऋषिः स्याद्देवता च। मन्त्रप्रणेतुस्तु वक्तृत्वेऽपि तत्र ऋषित्वमपह्नूयते। अथ पञ्चमे संवादेऽपि मन्त्रप्रणेतु ऋषित्वमपह्नूयते। ययोस्तु संवादो वर्ण्यते तयोर्मध्ये वक्तु ऋषित्वं सेयोऽस्य देवतात्वमिति पर्य्यायेणोभयोर्ऋषित्वं देवतात्वं च विवक्ष्यत इति

बृहद्देवतायां भगवता शौनकेन सुविशदं व्याख्यातम्। एषामुदाहरणानि तु विस्तरभयान्नेहोपन्यस्यन्ते। ऋग्वेदादिमन्त्रसंहिताचतुष्टये तु य इमे मन्त्राणाम् ऋषयः केचन स्मर्यन्ते तत्रैतत्पञ्चमं वक्तृत्वलक्षणमेव ऋषित्वं द्रष्टव्यम्।

तदित्थं लक्षणभेदादृषयश्चतुर्धा भिद्यन्ते, तेषां च जन्मकर्मस्वरूपाख्यानादयो द्विधया अपि प्रातिस्विकतया भिद्यन्ते नान्यधर्मा अन्यत्रोपपद्यन्ते, तथापि नामसामान्यादन्यत्राप्यन्यधर्माः सांकर्य्येण प्रतिधीयन्ते। यथाऽनेकवर्ष सहस्रजीवित्वं प्राणलक्षणेपूपपन्नमपि नियतपुरुषायुषेषु शतायुषु मनुष्येषु नोपपद्यते। एवमेवेदं मैत्रावरुणित्वमुर्वशीजन्यत्वं च रोचनालक्षणेषु मत्स्य वसिष्ठागस्त्येष्वेवोपपन्नमपि मन्त्रद्रष्टृषु पारोवर्य्यवित्सु पुरुषेषु नोपपद्यते। अतएवायं वसिष्ठो मनुष्यविधो विद्वान् तारालक्षणं तदुपलब्धप्राणलक्षणं वा वसिष्ठं संबोध्य "उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या" इति मन्त्रं प्रयुङ्क्ते। नतु मनुष्यविधमात्मानमेव तथासंबोधयितुं युज्यते। "अहर्वै मित्रं रात्रिर्वरुणः" इति श्रुतेः। पूर्वकपालस्थादित्यस्य संस्रवशीलत्वान्मित्रत्वं पश्चिमकपालस्थादित्यस्य तु विशरणशीलतया तमसा व्रियमाणत्वाद्वरुणत्वम्। तयोश्चावच्छेदकस्य मध्यमस्य याम्योत्तरवृत्तस्य दिकृत्वादप्सरस्त्वमुभयत एवोर्वन्तरिक्षे समानव्याप्तिमत्त्वादुर्वशीत्वम्। तस्या मध्यमरेखायां तयोः समुद्ररूपेऽन्तरिक्षे कुम्भराशौ परिप्लवमानयो रेतः सेक तत्र वरुणोभयधर्माणस्त्रयस्तारारूपा उत्पद्यन्ते उत्तरतो वसिष्ठो दक्षिणतोऽगस्त्यः कुम्भमध्ये तु मत्स्य इति। पुरायुगे कुम्भेन धान्यानि मीयन्ते स्मेति कुम्भस्य मानत्वं तत्रोत्पन्नत्वादेषां त्रयाणां मान्यत्वं चाहुः न त्वेवमेव कुम्भजन्यत्वं मनुष्याणां वसिष्ठागस्त्य मत्स्यानां संभाव्यते। वसिष्ठे नैवसप्तमस्य त्रयस्त्रिंशसूक्ते पञ्चभिऋग्भिर्मित्रावरुणाभ्यामुर्वश्यां माने कुम्भे रेतःसेकाख्यानात् तदाख्यानस्य स्वविषकत्वासामञ्जस्यात् तदन्यविषयकत्वोपपत्तेः। तस्मात् तारारूपाणां वसिष्ठादीनामेवेदं ताराविज्ञानोपयोग्याख्यानविशेषसिद्धं मैत्रावरुणित्वमुर्वशीजन्यत्वं मान्यत्वं-वा न तु ब्रह्मणो मानसपुत्राणां मनुष्यविधानाम्। ताराविपर्यायणी सर्वापीयमाख्यायिका ताराविज्ञानोपयोगिनी बालकोत्रनार्थाबहुलपसारा सिध्यैव कल्पिता पूर्वैरिति नैतावता मनुष्यविधर्षिषु तदाक्षेपः शक्यः कर्तुम्। यत्तु ब्रह्मणो मानस पुत्रस्य वसिष्ठस्य गोतमहोतृके यज्ञे निमिशापाद्दग्धशरीरतया पुनरुर्वश्यां

द्वितीयं जन्मेत्याचक्षते पौराणिकाः । तदपि नामसामान्यादुपसंक्रमितस्य मैत्रावरुणित्वादिधर्मस्योपपादनार्थं कल्पनामात्रं स्यात् । द्वितीयजन्मनि वेश्या-पुत्रत्वे कथंचिदभ्युपगम्यमानेऽपि वेदमन्त्रद्रष्टुः प्रथमजन्मनो ब्रह्ममानसपुत्रस्य जन्मदाता मुख्यःपिता कश्चिदन्य एव स्यात स नाद्यापि निर्धारितो विज्ञायते इति विरम्यते ।

## मनुष्यवसिष्ठस्य भौमस्वर्गसंचारित्वम् ।

४- स्वर्गे सहस्रद्वारं वरुणगृहं गतोऽयं वसिष्ठो वरुणं स्तुवन्नात्मानं मनुष्यत्वेन प्रतिजानीते -

यत्किञ्चेदं वरुणदैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि ।
अचित्तीयत्तव धर्म्मा युयोपिम मानस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ।

इति ( ऋ ७/८९/५ )

एतेन भारतवर्षनिवासिनस्तस्य वरुणदेवकृपया स्वर्गे गमनागमनसंस्रवो विज्ञायते ।

## मन्त्रद्रष्टृत्वस्य पर्षद्ब्रह्मत्वस्य तपस्वित्वस्य राजपुरोधस्त्वस्य चान्यान्य वसिष्ठवृत्तित्वम् ।

५- वसिष्ठवंशधरा अपि सर्वे वसिष्ठा उच्यन्ते -
" आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक् ।
सकृदाख्यात निर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह । "

इति वैयाकरणैः सिद्धान्तितत्वाद् वसिष्ठादिगोत्रशब्दानां जातिवाचित्वात् । यथा गवां वंशधराः सर्वे गाव एव स्युरेवं वसिष्ठवंशधराः सर्वे वसिष्ठा एव स्युः । तत्र नायं वसिष्ठशब्दस्तत्प्राणद्रष्टृव्यक्तिमात्रे तत्पुत्रपरम्परायामेव वा रूढः, किन्तु वासिष्ठ्यां ब्रह्मपर्षदि यः कश्चित पुत्रो वा शिष्यो वा पर्षदध्यक्षो ब्रह्मासीत स सर्वो वसिष्ठ इत्युच्यते । वसिष्ठस्य ब्रह्मत्वेन स्मरणात् पर्षदधिष्ठा-तुरेव च ब्रह्मत्वान् वसिष्ठानामानन्त्याचान्येऽन्ये वसिष्ठा अर्बुदाचलेऽयोध्यायां वा ऽन्यत्राख्याने वा संभाव्यन्ते न त्वेतेषामर्वाचां वेदमन्त्रद्रष्टृत्वं कल्प्यम् ।

अयोध्याराजपुरोहितनानावसिष्ठापेक्षया बहुपुरातनस्य कस्यचिन्मूलपुरुष वसिष्ठस्य वेदमन्त्रद्रष्टृत्वेनाभ्युपगम्यमानत्वात् ।

६– सोऽयमेको मूलपुरुषरूपो वसिष्ठो द्वादशैतस्य पुत्राश्चत्वारस्तत्पौत्रा इत्येवंसप्तदश पुरुषा वसिष्ठसंहितायां मन्त्रद्रष्टारः स्मर्य्यन्ते । एतद्व्यतिरिक्ता स्तद्गोत्रे मन्त्रद्रष्टारो न सन्ति तेषांनामानि यथा –

(१) वसिष्ठो ब्रह्मणः पुत्रः (=६५ मन्त्राः)

(२) वसिष्ठपुत्राः–

१. मन्युः
२. उपमन्युः
३. व्याघ्रपात्
४. मृडीकः
५. वृषगणः
६. प्रथः
७. इन्द्रप्रमतिः
८. द्युम्नीकः
९. चित्रमहाः
१०. कर्णश्रुत्
११. वसुक्रः
१२. शक्तिः

इत्येते द्वादश वसिष्ठपुत्राः ।

---

(३) वसिष्ठपौत्राः —

१. वसुक्रद् वासुक्रः
२. वसुकर्णो वासुक्रः
३. पराशरः शाक्त्यः
४. गौरिवीतिः शाक्त्यः

इत्येते चत्वारः पौत्राः ।

७– तत्र वसिष्ठोऽग्निं पञ्चविंशत्या, आप्रमग्निमेकादशभिः, पावकं शुचिं चाग्निं दशभिः, शुक्रं यविष्ठमग्निं दशभिः, वैश्वानरमग्निं षोडशभिः, नानागुणमग्निं त्रिसप्तत्या तुष्टावेति पञ्चचत्वरिंश शतम् १४५ आग्नेयं प्रथमं पर्व । वसिष्ठ एव त्रिचत्वारिंशेन शतेनेन्द्रं नवभिर्वसिष्ठवश्यान् संम्बोध्यैतमिन्द्रं, पञ्चभिर्वसिष्ठागस्त्ययोरुर्वश्यां मित्रावरुणाभ्यां जन्माख्यानं, चतुर्भिः सुदासः पैजवनस्य दानं तुष्टावेत्येकषष्ठं शतम् (१६१) ऐन्द्रं द्वितीयं पर्व । पार्थिवं वैश्वदेव्यं मेकेन सूक्तेन पञ्चविंशत्यामन्त्रैःदिव्यंवैश्वदेव्यं षड्भिः

सूक्तैश्चतुःपञ्चाशता मन्त्रैः आन्तरीक्ष्यं वैश्वदेव्यं पञ्चदशभिः सूक्तैरष्टपष्ठ्या मन्त्रैः, चतुर्थलोकीयं वैश्वदेव्यमूनपञ्चाशत्सूक्तैर्नवाशीत्यधिक त्रिशंत्या मन्त्रैस्तुष्टावेति षट्त्रिंशानि पञ्चशतानि (५३६) वैश्वदेव्यं तृतीयं पर्व। त्रिभिः सूक्तैस्त्रयोविंशत्या (२३) मन्त्रैः पावमान्यं चतुर्थं पर्व। इति चतुर्भिः पर्वभिर्वसिष्ठार्षेयं वृत्तम्। "यूयं पात स्वस्तिभिः सदानः" इति वसिष्ठ काव्याभिज्ञानं ध्रुवकपदम्।

(८) अथेन्द्रप्रमतिर्वृषगणो, मन्युः, उपमन्युः, व्याघ्रपात्, कर्णश्रुद्वसुक्रो मृडीकः शक्तिरित्येते वासिष्ठास्त्रिभिस्त्रिभिः शक्तिश्चतुर्भिश्चान्यैर्मन्त्रैः पवमान तुष्टाव। मृडीक पञ्चभिश्चित्रमहा, अष्टभिरग्निं, द्युम्नीकः षड्भिरश्विनौ, अथ एकेन विश्वान् देवांस्तुष्टाव (५१) अथ पराशरः शाक्त्यश्चतुर्दशभिः, गौरिवीतिः शाक्त्यो द्वाभ्यां पवमानं, गौरिवीतिरेकादशभिः षड्भिश्चेन्द्रं तुष्टाव (३३) इति चतुरशीतिमन्त्रैरुत्तरवासिष्ठ पञ्चमं पर्व(५) तदित्थं पञ्चषष्ठ्यान्यष्टशतानि मन्त्राणा मयं वसिष्ठः स्वयं, एकपञ्चाशन्मन्त्रान् वसिष्ठपुत्राः, त्रयस्त्रिंशन्मन्त्रान्वसिष्ठ पौत्राः ददृशुः– इत्यून पञ्चाशदधिकैर्नवभिः शतै वासिष्ठी संहिता पूर्णा। (९४९)

(९) यद्यप्ययं मान्यो वसिष्ठो मनुष्यलोकस्थो न स्वर्ग्यः भारतवर्षे मनुष्यलोके सिन्धुनदप्रान्ते सरस्वतीनदीसङ्गमस्थाने सरस्वतीग्रामे वसिष्ठाभि जनस्य व्याख्यातत्वात्। तथा प्युत्तरकालमिन्द्रानुग्रहवशात् तस्य स्वर्गे निवासः समपद्यतेति श्रूयते वाजिश्रुतौ तद्यथा —

"वसिष्ठो ह विराजं विदांचकार। तां हेन्द्रोऽभिदध्यौ। स होवाच ऋषे। विराजं ह वै वेत्थ। तां मे ब्रूहीति। स होवाच-किं मम ततः स्यादिति। सर्वस्य च ते यज्ञस्य प्रायश्चित्तिं, ब्रूयां, रूपं च त्वा दर्शयेयेति। स होवाच—यन्नु मे सर्वस्य यज्ञस्य प्रायश्चित्तिं ब्रूथाः- किमु स स्याद् यं त्वं रूपंदर्शयेथा इति। जीवस्वर्ग एवास्माल्लोकात् प्रेयादिति। ततो है ता मृषिरिन्द्राय विराजमुवाच—"इयं वै विराडिति"। तस्माद् योऽस्यै भूयिष्ठं लभते स एव श्रेष्ठो भवति। अथ हैतामिन्द्र ऋषये प्रायश्चित्तिमुवाच— अग्निहोत्रादग्रे— आ महत उक्थात्। ता

ह स्मैताः पुरा व्याहृतीर्वसिष्ठा एव विदुः। तस्माद्ध स्म पुरा वासिष्ठ एव ब्रह्मा भवति। यतस्त्वेना अप्येतर्हि य एव कश्चाधीते—ततोऽप्येतर्हि य एव कश्च ब्रह्मा भवति। स ह वै ब्रह्मा भवितुमर्हति। स वा ब्रह्मान्नित्या मन्त्रितः प्रतिशृणुयाद्-य एवमेता व्याहृतीर्वेद" इति। शत. १२/कां/३ प्र./१ ब्रा.) इति।

तथा चैतस्य वसिष्ठस्योत्तरकालं जीवस्वर्ग वासितया तादृशवसिष्ठ-प्रणीतोऽयं वेदसंहिताग्रन्थः स्वर्ग्य एवाभिज्ञायते। तद्वर्णितानां देवानां भौमस्वर्ग वासितया सूर्य्यप्राणतया च स्वर्ग्यार्थविषयकत्वात्॥

सोऽयमैतिहासिको वैज्ञानिकश्च द्विविधोऽपि वसिष्ठो व्याख्यातः॥

॥ इति वसिष्ठः॥



# अगस्त्यः

वासिष्ठ्यां वसिष्ठानास्त्यमत्या रोचनालक्षणा व्याख्याताः इह पुनः प्राणलक्षणानेतान् व्याख्यास्यामः ।

"मित्रः संसृज्य पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सह" इति श्रुतेः पृथिव्यां ज्योतिः संसर्जनाः सूर्य्यरश्मयो मित्रः ।

"वि यो जघान शमितेव चर्मोपतस्तिरे पृथिवीं सूर्याय" इति मन्त्रश्रुतेः पृथिवीपृष्ठात् ज्योतिरपसारयन्तः सूर्यरश्मयो वरुणः । "अहर्वै मित्रं रात्रिर्वरुणः" इति ब्राह्मणश्रुतेरप्यत्रैव तात्पर्य्यम् । ताभ्यां च पूर्वपश्चिम-कपालौ लक्ष्येते । कपालद्वययोगिनी याम्योत्तररेखात्मिकादिगुर्वशी पञ्चचूड-ब्राह्मणे भगवता भाहित्थिना दिशामप्सरस्त्वेनाख्यानात् । भगवान याज्ञवल्क्यस्तु आहुतिरुर्वशीत्यभिमनुते । कपालद्वययोगादुत्पन्नोऽण्डरूपो मानः कुम्भः, आपोमयं चेदमन्तरिक्षं समुद्रः । समुद्रे विहरन्त्यां मित्रावरुणाभ्यामुर्वश्यां दिश्याहुत्यां वा संयुज्यमानाभ्यामाग्नेयाप्यरेतोनिषेकादस्मिन् कुम्भे त्रिविधा मरुतः प्राणा उत्पद्यन्ते-शीतवीर्य्या उष्णवीर्य्या अनुष्णाशीतवीर्य्याश्च । आद्याः सोमधर्माणः सौम्या उत्तरायतना. उत्तरा हीयं सौम्या दिक् तस्यां प्रचरन्तो हीमे वरुणसखाः प्राणावसिष्ठा इत्याख्यायन्ते आपवा आप्सवा वसिष्ठा इत्येकार्थाः । एते हि मरुतः प्राणा वरुणसख्यत्वस्वाभाव्याद्, अप्सु प्रविष्टा उभयोः समन्वया

दद्भ्यः पृथिवीं जनयन्ति तत्राप्त्वनिवृत्युत्तरमुत्पन्ने पृथिवीत्वे तस्या अष्टौ व्याहृतयो भवन्ति आपः[1], फेनः[2], ऊषः[3], सिकताः[4], शर्कराः[5], अश्मा[6], अयो[7], हिरण्यमिति[8] । प्राथमिकी तावत् पृथिव्या व्याहृतिर्द्रवप्रायरूपत्वादापःशब्देनै-वाख्यायते । सा चातिरिच्यते पृथिवीत्वमनाप्ताभिमुख्याभिरद्भिः । आपस्ता-वन्मरुतं वृण्वते, स बुद्बुदो नाम । तत्रापां निम्नगतिस्वाभाव्याद् बुद्बुदशिरसो मन्दस्तरत्वोपपत्तावुत्क्रमणस्वभावो मरुन्मन्दबलं बुदबुदशिरो निर्भिद्य

बहिर्भवति । यत्र तु मरुतोऽल्पत्वादपां च भूयस्त्वाद् बुद्बुदशिरसो मन्दस्तरत्वं नोपपद्यते, तत्रायमवरुद्धो मरुन्नियतकालोत्तरमवसन्नो म्रियते । वरुणवैमनस्यादैन्द्री शक्तिरुत्क्रमणलक्षणा मरुतो निर्वर्तते । सोऽप्सु दत्तात्मा स्वं खरत्वमप्सु प्रक्षिप्य तदुभयत्रिलक्षणधर्माणां पृथुत्वं गतमर्थं जनयति सा पृथिवी मृत्तिका नाम । इदानीं यावदपां द्रवणधर्मस्यैकान्ततोऽनपलापादियं पृथिव्याः प्रथमा व्याहृतिराप एवोच्यते । ततः क्रमेण परिपाकान् फेनोपऽसिकता जायन्ते, तथाचैतास्वप्सु येषां मरुतां प्राणानां संयोगादप्फेनोपःसिकताख्याश्च तस्रोऽप्सुगमनस्वाभावा व्याहृतयः क्रमेण सृज्यन्ते, ते वासिष्ठा नाम प्राणाः स्युः । वेदात्सर्वा सृष्टिर्भूत्वा यज्ञाज्जीवतीति सिद्धान्तः । प्राणोर्गन्नानामन्योऽन्य परिग्रहो यज्ञ इति वाजिश्रुतौ व्याख्यानम् । ऊर्जा ह्यन्नं गृहीतं प्राणत्वमापद्यते । सोऽयमूर्जा शक्तिमानप्फेनोष सिकतागतो वसिष्ठप्राणोऽपएवान्नं भूयो भूयो गृह्णन्नात्मनि भावयति । तत एवैताश्चतस्रो व्याहृतयोऽद्भिः संमिश्रिता एकीभवन्ति । सोऽयमपां मूर्छनाददूभ्यः पृथिव्युत्पादकः प्राण उत्तरस्यां सप्तर्षिगतवसिष्ठाख्यताराताः परितो व्याप्नुवन् लभ्यते इत्यतः सा तारापि वसिष्ठ उच्यते । तत्सम्बन्धादेव च विपुवत उत्तरस्यामाधिक्येन वस्तुं योग्या निवासभूमयो लभ्यन्ते । नैवं दक्षिणस्यां समुद्रप्रायायामगस्त्याचरिताया दिशि । तदित्थं वसिष्ठा नाम शीतवीर्याः प्राणा व्याख्याताः ।

अथ कुम्भजन्मान उष्णवीर्याः इतरे प्राणा यमधर्माणो याम्या दक्षिणायतनाः । दक्षिणा हीयं याम्या दिक् । तानगस्त्या इत्याचक्षते । एते हि मरुतः प्राणाः । तेषां च —

किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव ।
तेभिः कल्पस्व साधु या मानः समरणेऽव धीः ॥१॥
किं नो भ्रातरगस्त्यसखा सन्नति मन्यसे ।
विद्मा हि ते यथा मनोऽस्मभ्यमिन्न दित्ससि ॥२॥ इति ।

(१/१७०)

इन्द्रागस्त्यसंवादश्रुतेरिन्द्रसख्यत्वं लभ्यते । इन्द्रसख्यत्वस्वाभाव्याच्च वरुणविरोधादप्स्वप्रविश्य तासामपामवयवान् विश्लेष्य तद्रसान् पीत्वा विला–

पयति । अप्फेनोपसिक्तासृष्ट्युत्तरमगस्त्याख्यमरुत्संयोगादपां नियमनादप्-संमिश्रणाविरोधिन्यः शर्करा-अश्मा-अयो-हिरण्यमिति चतस्रो व्याहृतयः[1 2 3 4] क्रमेण सृज्यन्ते। तेनाष्टौ व्याहृतयः पृथिव्याः संपद्यन्ते । अपि चैतेऽगस्त्याः प्राणाः अन्तरिक्षरूपे समुद्रेऽपां रसं पीत्वाऽन्तरिक्षसमुद्रं निर्जलं कुर्वन्तीत्यत एवागस्त्यताराभ्युदयादूर्ध्वं वृष्टिचातुर्मास्यं निवर्तते । वर्षर्तु दोषाद् रजस्वलानां सरितामपामगस्त्योदयादूर्ध्वं रजसामद्भ्यो विच्छेदादापः शुद्धा भवन्ति । आपश्च पृथिवीबन्धनाद् विमुक्ताः क्रमेणोर्ध्वमाकाशमनूत्क्रमन्ते इत्यतस्तदानीं भूसावन्तर्निपाताद् भूमिपृष्ठे तिर्य्यक् प्रवहणाद्वियत्यूर्ध्वमुत्क्रमणाच्च त्रिपथगाः सम्पद्यन्ते । अगस्त्योदयादूर्ध्वमाकाशसमुद्रस्य निर्जलप्रायतया तत्रानिशं पार्थिव समुद्रादाप उत्क्रममाणा भवन्तीत्ययं समुद्रोऽपि सुतरां निपीतजलः क्रमेणोपपद्यते । तदिदमगस्त्यस्याकाशसमुद्रपीतत्वं भौमसमुद्रपीतत्वं च लोका आहुः ।

अपि चेह द्विविधाः पर्वता भवन्ति-हिमाद्रयश्च विन्ध्याद्रयश्चेति । जलग्राहीप्राणतया जलक्लिन्नान्तर्जालकाः फल्गुसारप्रस्तरा विशीर्णपर्णजालत्वाज्जलोच्छूनोदरत्वाच्चात्यन्तमुन्नमन्तः पर्वता हिमाद्रयः, तद्विरुद्धा जलोत्क्षेपकप्राण तया शुष्यदन्तः स्तरा दृढसारा निर्जलोदरतयोत्तरोत्तरघनीभवदङ्गा विनमन्तः पर्वता विन्ध्याद्रयः । अप इन्धे उद्दीपयतीन्ध्यविन्धः प्राणविशेषोऽगस्त्यो नाम । तमर्हतीत्यविन्ध्यः सन् विन्ध्य इत्याख्यायते परोक्षम् । यथा चायं हिमाद्रिर्वसिष्ठप्राणाकृष्टजलोदरत्वादुच्छ्वयमानः प्रोन्नमुच्छ्रङ्गः समपद्यत, एवमयं विन्ध्याद्रिर्नीन्नमच्छृङ्गः समपद्यत, आगस्त्यप्राणनिक्षिप्तोदकसारत्वादुत्तरोत्तर घनीभावादधोऽधः संपातोपपत्तेः । तदिदमगस्त्य विन्ध्याद्रिनिग्रहणमाचक्षते पौराणिकाः । अतएव चास्य मरुत्प्राणस्यागस्त्यत्वमाख्यायते । अगं पर्वत मश्मानं स्त्यायति संहन्तीति व्युत्पत्तेः । सर्वे चैतेऽगस्त्यप्राणधर्मा नामसामान्या दगस्त्यप्राणद्रष्टरि विदुष्यगस्त्ये भक्त्या निक्षिप्यन्ते लोकैरित्यवसेयम् अगस्तिरिति त्वगस्त्यस्य परोक्षव्यवहारः ।

मत्स्यपुराणैकषष्टि (६१) तमाध्यायेऽस्यागस्त्यस्याग्निमारुतत्वमाख्यायते । तारकाद्यसुराः सामुद्रजलदुर्गप्रच्छन्नाः सुगुप्ता नाजीयन्तेत्यत इन्द्रेण समुद्रं शोषयितुमादिष्टावग्निमरुतौ सहैकेन शरीरेण रूपमाधातुमुर्वश्यां मित्रावरुणरेतोभ्या मजायेताम् । ततोऽयमग्निमारुतोऽगस्त्यो भूत्वा समुद्रमशोषयदित्याह ।

" काशपुष्पप्रतीकाश अग्निमारुतसंभव ।
मित्रावरुणयोः पुत्र कुम्भयोने नमोऽस्तुते " ॥ १ ॥

इति च प्रार्थनामन्त्रमाह । तदेतदग्निमारुतत्वं जलशोषकमारुतस्यास्यो-ष्णवीर्यत्वादवसेयम् । तदित्थमगस्त्या नामोष्णवीर्या मरुतः प्राणा आख्याताः॥ २ ॥

तथा चायं निष्कर्षः – उर्वशीनामके मध्यान्हवृत्ते सौम्ये उत्तरकपाले पूर्वापरकपालप्राणाभ्यामाहुत्या यः प्राणो निष्पद्यते स वसिष्ठोमरुत्प्राणः । स वरुणसखः । अथ तत्रैवोर्वशीनामके मध्याह्नवृत्ते याम्ये दक्षिणकपाले पूर्वापर कपालप्राणाभ्यामाहुत्या यः प्राणो निष्पद्यते सोऽगस्त्यो मरुत्प्राणः । स इन्द्र-सखः । तदुभयसंक्रान्तधर्मा समवीर्यो मरुत्प्राणो मत्स्यो नाम, तत्प्राणोपवर्षकश्च मध्याकाशे याम्यमत्स्यो नाम कश्चिन तारविशेषो दृश्यते । तदित्थं त्रिविधाः सर्वे मरुतः प्राणाः । मरुतां सप्तसप्तकत्वेऽपि संहत्य सर्वे त्रिविधा एवेत्थं भवन्तीति निष्कर्षो द्रष्टव्यः ॥ ३ ॥

एषां च त्रिविधानां प्राणानां मध्येऽगस्त्यप्राणद्रष्टुरुपासकस्य विदुषोऽप्य-गस्त्य इत्येव यशोनाम प्रख्यायते स्म । स च वसिष्ठवद् भारतवर्षीय एवासीन्न तु स्वर्गीयो देवः । " **अगस्त्यो नरां नृषु प्रशस्तः काराधुनीव चित् यत् सहस्रैः ।** " (ऋ. १/१८०/८) इत्येवमगस्त्येनैव स्वस्य नरत्वप्रतिज्ञानात् । तस्य च देवेन्द्रकृपया स्वर्गे गमनागमनसंस्तवो विज्ञायते ।

वसिष्ठप्राणसंवाहिकाया वसिष्ठताराया उत्तरदिग्वर्तितया तदुपासना-नुरोधेन तत्प्राणद्रष्टुर्वसिष्ठस्य विदुषोऽप्युत्तरस्यां दिशि यथाऽऽश्रमः प्रदृश्यते तथैतस्या अगस्त्यप्राणसंवाहिकाया अगस्त्यताराया दक्षिणदिग्वर्तितया तदुपासना-नुरोधेन तत्प्राणद्रष्टुरगस्त्यस्य विदुषोऽपि दक्षिणस्यां दिश्येव क्वचिदाश्रमः प्रसिध्यति । स च गोदावरीसंनिहितात पञ्चवटीनाम्नो रामाश्रमाद् योजन द्वयान्तरे पूर्वमासीदिति रामायणे स्मर्यते ।

तत्रागस्त्यस्य वातापील्वलभक्षकस्य रामसमसामयिकस्यैव वेदमन्त्रद्रष्टृत्व मासीदिति नास्थीयते । " **युवां गोतमः पुरुमीढो अत्रिः ।** " (ऋ. १/१८३/४)

इति मन्त्रवर्णात् पुरुमीढसमकालिकस्य तस्य रामसमकालिकत्वासंभवात्। अगस्त्यगोत्रप्रवर्तकस्य प्राथमिकागस्त्यस्य वसिष्ठवन्मैत्रावरुणित्वं स्मरन्तीत्यादि-वसिष्ठसमकालिकस्य तस्य सूर्यवंशप्रवृत्तेरप्यतिपुरातनतया रामसमये तस्या संभाव्यमानत्वात्। अगस्त्यवंशधराः सर्वेऽगस्त्या उच्यन्ते। अगस्त्यगोत्रस्य जातिवचनत्वात् सर्वेषां तद्गोत्रजातानामगस्त्यशब्देन व्यवहर्तुं शक्यत्वात्। गोत्रं द्वेधा जन्मना, विद्यया च तत्र न जन्मना गोत्रेऽयमगस्त्यशब्दो रूढः। किन्तु विद्यया गोत्रे पुत्रो वा शिष्यो वा यः कश्चिदेवागस्त्यां ब्रह्मपर्षदि तदध्यक्षो ब्रह्मासीन् सोऽयमन्योऽन्यः काले कालेऽगस्त्यः प्रतिपद्यते स्म। तस्माद्रामसमये ऽप्यन्यः कश्चनागस्त्यः संभाव्यते। "शतायुर्वै पुरुषो भवतीति" श्रुतेः। सर्वेऽप्येतेऽगस्त्यवसिष्ठादयः शतायुषो द्रष्टव्याः– इति दिक्।

अस्यागस्त्यस्य मन्त्रसंहितायां सोऽगस्त्य एकः[1]। अगस्त्यपुत्र एकः[2]। अगस्त्य पौत्रश्चैकः। अगस्त्यशिष्यः। अगस्त्यपत्नी। अगस्त्यभगिनी। चत्वारो-ऽस्य भगिनेयाश्चेति दशर्षयो द्रष्टारः सन्ति[10]।

तत्रागस्त्योऽष्टर्चसूक्तेनाग्निमेकादशर्चसूक्तेनाग्निमेव तुष्टावेत्यूनविंशत्यृच-मारनेयं पर्व। चतुर्दशभिः सूक्तैः ऋचामष्टादशशतेनेन्द्रं तुष्टावेति द्वितीयं पर्व[118]। पञ्चभिः सूक्तैरूनचत्वारिंशता ऋग्भिः अश्विनौ, एकादशर्चसूक्तेन द्यावापृथिव्यौ, एकादशर्चसूक्तेन विश्वदेवान्, एकादशभिरोषधीः, रङ्भिर्बृहस्पतिं, षोडशभिर-वोषधिसूर्यान् तुष्टाव। षड्भिरगस्त्यलोपामुद्राब्रह्मचारिणां संवादः – इत्येकादश सूक्तैः द्व्यधिकशतमन्त्रकृतं वैश्वदेव्यं तृतीयं पर्व[102]। तदित्थमूनचत्वारिंशे द्वे शते -अगस्त्यार्षवृत्तम्। "विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्।" इत्यगस्त्यस्य काव्याभि-ज्ञानं ध्रुवपदम्। अथागस्त्यपुत्रो दृढच्युतः षड्भिः पवमानम्। इध्मवाहो दार्ढ्यच्युतश्च षड्भिः पवमानं तुष्टाव। बन्धु–सुबन्धु–श्रुतबन्धु–विप्रबन्धवो लौपायना गौपायना वाऽगस्त्यभगिनेयाः अत्रिगोत्रा द्वाभ्यामग्निं षड्भिर्विश्वान् दशभिर्निर्ऋतिसोमासुनोतिद्यावापृथिवीन्द्रान्, षड्भिरसमातिं राजानमिन्द्रं, षड्भिः सुबन्धोर्जीविताह्वानं, द्वादशभिर्मन आवर्तनं तुष्टवेति द्वाचत्वारिंशत्।

२६३

तदित्थं चतुःपञ्चाशन् मन्त्रमुत्तरागस्त्यं चतुर्थं पर्व । सेयं त्रिनवत्यधिकशत-द्वयेनागस्त्य संहिता पूर्णा ।

यद्यप्ययं मान्योऽगस्त्यो मनुष्यलोकस्थो न स्वर्ग्यस्तथाप्ययमगस्त्यप्रणीतो वेदसंहिताग्रन्थः स्वर्ग्य एवाभिज्ञायते । तद्वर्णितानां मनुष्यदेवानां भौमस्वर्ग-वासितया प्राणदेवानां स्वर्गवासिसूर्यप्राणतया च स्वर्ग्यार्थविषयकत्वात् ।

सोऽयमैतिहासिको वैज्ञानिकश्च द्विविधोऽप्यगस्त्यो व्याख्यातः ।

इति अगस्त्यः ।

| | | |
|---|---|---|
| १. | भृगुः | स्नेहः आप्यः आधिभौतिकः |
| २. | अङ्गिराः | तेजः आग्नेयः आधिभौतिकः |
| ३. | अत्रिः | चान्द्राधिदैवतः |
| ४. | मरीचिः कश्यपः | सौराधिदैवतः |
| ५. | वसिष्ठः | दक्षिणाधिदैवतः अपां गुरुत्वापादकत्वादपक्रामुकः |
| ६. | अगस्त्यः | उत्तराधिदैवतः अपां लघुत्वापादकत्वादुत्क्रामकः |
| ७. | विश्वामित्रः | आध्यात्मिकः |
| ८. | विश्वकर्मा | आध्यात्मिकः |
| ९. | दक्षः | आध्यात्मिकः |
| १०. | क्रतुः | आध्यात्मिकः |
| ११. | पुलस्त्यः | आसुरः |
| १२. | पुलहः | आसुरः |



# भृगुः—अङ्गिराः

## * अथ सर्वसृष्टिसाधारणो नियमः ।

(१) येनात्मनि दिव्यभावः संपद्यते, तदात्मनि मनोऽवच्छेदेन ज्ञानोदर्कोदयाप्रतिबन्धो ब्रह्मवीर्यम । ततोऽस्मिन् ब्रह्मवर्चसं तेजः, आकारस्तपो-विद्यावृद्धिरित्येतानि बलानि संभवन्ति ॥ १ ॥ अथ येन वीरभावस्तदात्मनि प्राणावच्छेदेन क्रियोदर्कोदयाप्रतिबन्धः क्षत्रवीर्यम् । ततोऽस्मिन्नोजो, वाजस्तेज आकारः, ऐश्वर्य—पराक्रमोत्साह—प्रतापा इत्येतानि बलानि संभवन्ति ॥ २ ॥ अथ येन पशुभावस्तदात्मनि वागवच्छेदेन धर्मोदर्कोदयाप्रतिबन्धो विड्वीर्यम् । ततोऽस्मिन् द्युम्नं तेज आकारः, वाणिज्यं, धनमित्येतानि बलानि संभवन्ति । अथ यत्र शारीरबलमात्रमुपपद्यते नात्मबलानामन्यतमसिद्धिः, तद् वीर्यं शूद्ररूपम् । ततो हि स आत्माऽऽशु शीघ्रमुत्कर्षेण द्रवते, क्लिन्नो भवति, विषीदति, अपि चातितरां द्राति, शेते, निष्कर्मालस्यं च धत्ते, तेनायं शूद्रो नाम । एतावदात्मनो वीर्यम् । यावद्वीर्यं तावद्वित्तम्, यावद्वित्तं तावदात्मा, आत्मा हि ब्रह्मेति सिद्धान्तः

## आत्मनो वीर्य्यत्रयम् ।

(२) तत्रैतदात्मनो मनोऽवच्छेदेन ज्ञानानामुत्थानप्रतिबन्धका धर्म्मा उपसन्ना ज्ञानव्याघातः पाप्मा । क्रियोत्थानप्रतिबन्धका धर्माः प्राणावच्छेदेनोप-सन्नाः क्रियाव्याघातः पाप्मा । अर्थोपलब्धिप्रतिबन्धका धर्मा वागवच्छेदेनोपसन्ना अर्थव्याघातः पाप्मा । तेषां चायमप्रतिबन्धो वीर्यम् । तत् त्रिविधम्— ब्रह्म, क्षत्रं, विडिति ।

## उक्थं प्रतिष्ठा सामेति कारणब्रह्मलक्षणम् ।

(३) उक्थं, प्रतिष्ठा, सामेति त्रिलक्षणमद्वितीयं किञ्चिदेकं तत्त्वं ब्रह्म । यत उत्तिष्ठते तदुत्थं सदुक्थं नाम । स्वतोऽनुपक्षीणं सदपूर्वं भावयतीति बृंहणशीलत्वात् तद्ब्रह्म । उत्पद्योत्पद्यार्थजातं यत्र प्रतितिष्ठति सा प्रतिष्ठा नाम ।

---

* सोऽयंब्रह्मविवर्ते प्रदर्शिता ।

बिभर्त्ति सर्वमिति भर्मत्वात् तद् ब्रह्म। अद्भयं ऽन्थितेषु अप्सु प्रतिष्ठितेषु फेन–हिम– श्लेष्माद्यर्थजातेषु यथाऽऽपः साम्येन वर्तन्ते, सिकता–शर्कराऽश्मायो–हिरण्येषु यथा पृथ्वीभावो दृश्यते, तथैतेषु सर्वेषु भिन्नेष्वपि यावद् भिन्नं सत्तासामान्यं तत् सर्वत्र समत्वात् साम नाम सर्वत्रोपबृंहितत्वाच्च तद् ब्रह्म। तदित्थं लक्षणम्–" ब्रह्म वेदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम् ।" (गो.ब्रा.पू.१/१)

## ब्रह्मणो व्याकरणम् ।

(४) तदव्याकृतपूर्वं बृंहणस्वाभाव्याद् व्याक्रियते। अविभक्तस्य विभक्त्युपपत्तिर्व्याकरणम्। उन्मुग्धावस्थस्योद्बुद्धावस्था व्याकरणम्। निर्विशेषाद्विशेषाभिव्यक्तिरुद्बोधः, मनःप्राणोवागिति सृष्टिसाक्षित्रैविध्येनारब्धः कर्मपुरुषोवा, मनो विज्ञानमानन्द इति मुक्तिसाक्षित्रैविध्येनारब्धो विद्यारूपो वा–ब्रह्मणो व्याकृतं रूपम्। विद्यापुरुषः सृष्टिबन्धमोक्ता, कर्मपुरुषस्तु सृष्टिबन्धकर्त्ता। तानीमानि पृथग् ब्रह्माणि। तत्र मनस्तावद् ज्ञानानां, प्राणः क्रियाणां, वागर्थानामुकथं च भवति, प्रतिष्ठा च, साम चेति। अन्योन्याविनाभूतमेतत् त्रितयमेको भाव आत्मा नाम। " स वा एष आत्मा वाङ्मयः, प्राणमयः, मनोमयः " ( शत. १४/४/३/१० ) प्रतिपत्तव्यः।

## आत्मनः सत्यरूपेण विश्वव्यापित्वम् ।

(५) आतश्चायमात्मा धर्माणि धारयमाणो धर्मी भवति। नानुपपन्नः स कदाचिदुपपद्यते। प्राणः शक्तिः। तेनायं कुर्वद्रूपोऽनवरतं किञ्चित्करोति। " न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् " (भगवद्गीता) अनवरतं च किञ्चिज्जानाति। आत्मा, प्राणाः, पशव इत्येवं त्रिवृद्रूपं सत्यम्। यावदुकथं स आत्मा। सोऽर्चं श्चरतीत्यर्का एतस्य प्राणाः। अन्तर्याम–बहिर्यामोपयामादिभिस्तदनुगृहीताः पशुभावा अशितयः। आत्मन्यश्नुवते इत्यशितयः। उकथमर्कोऽशितिरित्येवं त्रिवृत्कृतंरूपं सत्यम् सत्येन रूपेण पशुषु प्राणावस्थितिरात्मनो ज्ञानं नाम विकासो रूपम्। तथा चायमेक आत्मा सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् सर्वधर्मोपपन्नश्च। सर्वा एताश्चेष्टाः सर्वा अभिव्यक्तयः सर्वा व्यक्तयश्चायमेको भाव आत्मा। नातोऽन्यन् किञ्चिदस्ति।

## उक्थं प्रतिष्ठा सामेति व्यस्तं कार्यब्रह्मलक्षणम् ।

( ६ ) ततः कार्यब्रह्माभवत् । कार्यब्रह्मणि च कार्याणां वैचित्र्यादिदं त्रैविध्यं भिन्नाश्रयं व्यवतिष्ठते । तथाहि सूर्यो वा चन्द्रो वा पृथिवी वा, क्षुद्रः प्रस्तरखण्डो वा, सर्वमिदमेकैकं ब्रह्म त्रेधात्मानं प्रत्यसृज्य रूपं धत्ते—उक्थं प्रतिष्ठा साम चेति । यावानेष दृश्यते कश्चन पिण्डस्तदेकमेकं पृथगुक्थ भवति । सेयं निरुक्ता वाक् । तस्मादुक्तं सदेतत् पारोक्ष्यादुक्थं नाम । तदन्तर्गर्भो प्रतिष्ठानामेन्द्रः प्राणः । तत्प्रचलने पिण्डप्रचलनं, तदप्रच्युतौ पिण्डो न प्रच्यवते । तस्मात्सा प्रतिष्ठा नाम । अथैष पिण्डोऽतिदूरात्परिपश्यतां दृश्यो भवतीति तल्लोकालोकमण्डलं तदन्तर्मण्डलं च सर्वं साम । समं हि सर्वतो दिक्षु तद् दर्शयतीति साम नाम । तत्र दृष्टं चोक्थं महोक्थेन समं भवतीत्यतोऽपीदं साम नाम । प्रतिष्ठा ह्युक्थस्यात्मा साम्नश्च । उक्थं साम्न आत्मा प्रतिष्ठायाश्च । सामाप्यात्मा प्रतिष्ठाया उक्थस्य च । नत्वेषामेकमन्येन विना भवति । यत्सत्तया यस्य सत्ता स तस्यात्मा । तस्मादुक्थं प्रतिष्ठा साम चात्मा इत्याह भगवान् वाजसनेयः । आत्मा हि ब्रह्म । तदित्थंलक्षणं ब्रह्मैवेदं सर्वम् । तथाचोक्थं प्रतिष्ठा सामेति व्यस्तं कार्यब्रह्मलक्षणं बोध्यम् ।

## सूर्यचन्द्रपृथिव्यो ब्रह्मजातयः ।

( ७ ) अस्ति हि त्रिविधैतस्य ब्रह्मणो जातिः । स्वयंज्योतिः सूर्यो नाम । परज्योतिश्चन्द्रो नाम । रूपज्योतिः पृथ्वी नाम । तत्र यद्यपि सूर्यचन्द्रयोरेवाभिसमाम्नाये साम्नोऽभ्युपपत्तिः श्रूयते । "सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्" इति मन्त्रश्रुतौ ज्योतिष्येव साम्नः प्रतिपादनात् । तथापि तयारेद्धातमां सामप्रतिपत्तेरुदाहरणविधया तदाख्यानं, न तु पृथिव्यां तदभावे तात्पर्य्यम् । समानन्यायात् सर्वत्र सामोपपत्तेः । अथवा रूपस्यापि तेजोविशेषतया पृथिव्यामप्यञ्ज-सैवेयं श्रुतिः कृतार्था भवतीति वेद्यम् ।

## इच्छा-तपः-श्रमाः सृष्टिहेतवः ।

( ८ ) सृष्टेः प्राक् सृष्टिस्थितिकाले चेत्थं ब्रह्मणस्त्रैविध्यलक्षणमात्मत्वमाख्यातम् । इदानीं सृष्टिक्रमं प्रदर्शयामः । अव्याकृतं तदादौ तावत् त्रेधा

व्याकृतमभवत्-मनोमयं, वाङ्मयं, प्राणमयं च। "यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्" या वाक् स प्राणः, तन्मनः। तन्मनस्त्वादैच्छत्। प्राणत्वादभ्यतपत्। वाक्त्वादभ्यश्राम्यत्। अप्राप्तार्थप्राप्तिविषयिणी मनोवृत्तिरिच्छा। मनसि तद्वासना कामः। स्वतो मनसो निष्क्रियत्वेऽपि प्राणवैशिष्ट्याद् वृत्तिमतो यदशनाय प्राणप्रवर्त्तनावृत्तिः साऽशनाया सेच्छा। सा द्विविधा-वासनाक्रान्तमनः समुत्था, विशुद्धमनःसमुत्था च। निर्वासनेच्छया कृतकर्म्मणो बन्धकत्वं नास्ति। अतएवेश्वरस्य सिसृक्षामुमुक्षयोर्बन्धकत्वाभावः। स वासनेच्छया तु कृतकर्म्मणो ऽवश्यंबन्धकत्वमुपपद्यते इति बोध्यम। उक्थार्काशितिलक्षणायां मनोवृत्तौ मनो द्वेधारूपं धत्ते — पूर्णं चापूर्णं च। यावन्मनस्तावान् प्राण स्तावती वाक् तत्पूर्णं रूपम्। विस्रस्तसंभरितानां मनसिप्राणवाचांसाम्ये-नात्मनो विलिष्टाङ्गपरिपूर्त्तेः संभवात्। यत्पूर्णं तदुक्थं स आत्मा। अथात्मनो भूमस्वाभाव्याद् वृद्धिमभ्युत्क्रममाणस्य मनसो यदभ्युत्थानं तत्र प्राणमात्राया असहयोगादशितिलक्षणवाचोऽसंपत्तिरिति वाचा प्राणेन च शून्यमात्मानं पश्यत् तदभ्युत्थितं मनोऽपूर्णं रूपम्। तद्यथा विशिष्टां संपदमाकाङ्क्षमाणा-नामसमर्थानां दरिद्राणां मनः। यद्यपि नैषां वाक्प्राणमनसामेकमन्येन विनाकृतं भवति। अस्ति हि निष्क्रियस्य मनसोऽभ्युत्क्रमणार्थो मनस्यन्तर्य्यामः प्राणः। अस्ति चेच्छाविषयरूपा मनःस्था वाक्। अथाप्यशनायायामशितिं ग्रहीतुं बलं नास्ति अशनग्रहणस्यापेक्षितस्य बहिर्य्यामप्राणस्य विज्ञानाल्पत्वेन कर्म्मदोषेण चानुपार्जितत्वात्। तत एव चाशितिर्नास्ति। तस्माद् यद्यथेच्छति तत्तथा न शक्नोत्यात्मसात्कर्त्तुमित्यतस्तन्मनःशून्यमात्मानं पश्यतीत्यपूर्णत्वं-मनसो ब्रूमः। यावानस्य मनसोऽन्तर्य्यामप्राणः। यावती चास्येच्छा विषयभूता बुद्धिमयीवाक् तदुभयसाम्येनाशितिलाभो नास्तीतिवैषम्यात्। तदिदमुदरमन्तरं कुरुते तस्माद् वैषम्यं सर्वत्रदुःखाय कल्पते। अतश्चेयं सवासनेच्छा दुःखमयी भवत्यल्पप्राणस्य। यदपूर्णं रिक्तोदरं लघुत्वाद्विचलितप्रायं

---

१- विष्ठान संस्थानं व्याप्ति सीमा -

" सहस्रधापञ्चदशान्युक्था, यावद् द्यावापृथिवी तावदित् तत्।

सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्॥"

त्रिरिष्यमाणं तदर्चदचरत् तस्मादर्कोनाम । अर्चनमाराधनं साधनं संपादनमशितिग्रहणाय बलग्रहणमिति यावत्। एतेन प्राणसंपत्तिराख्याता। ततोऽशितिं प्राप्य पूर्णं भवदुक्थमात्मा संपद्यते । तत्रायमुक्थस्याक एव चरन्नात्मन इच्छानामोच्यते । तयेच्छया योऽर्थो विषयी क्रियते मनसि, तद्वासना कामः । वाचोऽर्थस्य मानसंरूपं कामः। यावान् वा प्राणेन मनसि वाचो भोग. स कामः। वाचोऽयमर्क उतिष्ठन् इच्छा भवति। तमर्थं जानानः कामयमान एवेच्छति ॥ १ ॥

इत्युक्तः कामः । अथैतत् तपो निरुच्यते। इच्छया सहैवोतिष्ठन प्राणस्तमर्थमभ्येति गमिच्छति । अर्थप्राप्ति साधनविषया प्राणवृत्तिः प्रयत्नः तत्तपः । मनोऽर्काहतकायाग्निसमुत्थापित प्राणप्रक्षोभस्तपः। प्रयतमानस्य प्राणक्षोभजन्योष्मणा योगो वाचस्तपः। उक्तं च मैत्रायणश्रुतौ—

"प्रजापतिः प्रजा असृजत । ता वै तपसैवासृजत । स वै स वाचमेवायच्छत् । तपो वा एष उपैति यो वाचं यच्छति । सृष्टिः प्रजानामग्निहोत्रम् । उभयत एव प्रजाः सृजते— इतश्चामुतश्चेति" (१/८/४) अपिच तत्रैव श्रूयते — "तपसो वै ताः प्रजाः प्रजायन्त । तपस्त्वं वा एतद्गच्छति यच्छृतत्वं गच्छति । ततः प्रजायते।" (१/१०/६) इति। शृतत्वमग्निसंयोगः । वाजिश्रुतावपि तपःस्वरूपं फेनदृष्टान्तेन श्रूयते । "एतद्वै फेनस्तप्यते यदप्स्वावेष्टमानः प्लवते स यदेवोपहन्यते मृदेव भवति" (६.१.१.) अन्यत्रापि तैत्तिरीयके कद्रु सुपर्णाख्याने श्रूयते— "एतत् खलु वाव तप इत्याहुर्यःस्वं ददातीति" (तै. सं. ६ कां. १ प्र. ६ अ. ३ कं)। दानं समर्पणम। तदात्मनोऽवदानादेव संभवतीत्यतोऽवदानमेवै-तद्दानम्। तथाहि— "आत्मदक्षिणं वा एतद् यत् सत्रम् । यदा वै पुरुष आत्मनोऽवद्यति यं कामयते तमभ्यश्नुते" (ताण्ड्य० ४/६/२०) इति ताण्ड्यश्रुतौ श्रुतस्यात्मावदानस्यैव तपस्त्वमभ्युपपद्यते॥

यान्येतानि यज्ञतपोदानानि कर्माणि श्रूयन्ते तपांस्येवैतानि सर्वाणि। तत्रैतावान भेदः। आत्मा वितायमानो यत्राधिदैविकैर्दैवैः संयोज्यते । मानुषे

आत्मनि दैवमात्मानमुत्पाद्य यत्रैनं दैवमात्मानं दिव्यैर्देवैः सश्लेषयति तदात्माव-दानं यज्ञः ॥१॥ अथ आत्मनो यो विराट् यच्छरीरं तस्य कति पयांशाः परत्र यद्यर्प्यन्ते तत्तपः ॥२॥ यथा ध्यानं वाऽनाशकं वा सर्वमिदमन्तरङ्गाणा मात्मांशानामर्पणं बोध्यम् । यत्र तु बहिरङ्गाणा मात्मीयानामन्नाद्यर्थाना मवदानेन परत्रार्पणं क्रियते तद्दानमिति भाव्यम् ॥ ३ ॥ उत्तरोत्तरं ह्येतद्विप्रकृष्टमिति तारतम्यात् पृथक्छब्दा भवन्ति । सर्वथाऽप्यात्मावदानं तपः । प्रजोत्पत्तौ वा अग्निपरितापेव आत्मनः कश्चिदंशोऽवत्तः सन परत्रोपयुज्यते तस्मात् तत्सर्वं तप इत्याहुः । मनसोपहितस्य प्राणस्य वाचमभि यावृत्तिस्तत् तपः ॥ २ ॥

एवं प्राणोपहिताया वाचो या स्वस्मिन् वृत्तिः स श्रमः ॥३॥ एकस्मादेव तत्वान्नानारसरूपार्थोत्पत्तौ तपोविशेषप्रवर्त्तककामविशेष एव हेतुः । यदेव यतः कश्चिदुत्पद्यते सेन्द्रियाद्वा निरिन्द्रियाद्वा सर्वत्रैवं कामतपःश्रमपूर्वैव सृष्टिर्भवतीति सृष्टिमात्रसाधारणो नियमः ॥

## प्राजापत्यंकुरुक्षेत्रम् ।

प्राजापत्यं पुरं यज्ञस्थानमस्तीति कारणात् ।
कुरुक्षेत्रमितिख्यातं क्रियते कर्म तत्र हि ॥१॥

यदिदं किञ्चित् क्वचिद्दृश्यते तदिदं सर्वमेकैकं प्राजापत्यं कुरुक्षेत्रम् । तमेदं तावत् शुक्रजनितंमृत्युमयं विद्यात् । वाग्गौर्द्यौरित्येतत त्रितयं मृत्युः शुक्रम् । अथैतत् सर्वं मृत्युमयममृते शुक्रेनिहितं विद्यात वागापोऽग्नि-रित्येतत त्रितयममृतं शुक्रम् ॥२॥ अथ सर्वं हीदं शुक्रियमन्नान्नादे ब्रह्मणि समर्पितानि सन्तीत्यग्नीषोमीयं विश्वंविज्ञायते ॥३॥ अथेदं सर्वमग्नीषोमीयं वाग् ब्रह्मणि सूर्य्यलक्षणे समर्पितानि भाव्यानि । "वाचीमा विश्वा भुवना-न्यर्पिता"— इति मन्त्रश्रवणात ॥ अतश्चेदं वाङ्मयं विश्वमाहुः ॥४॥ अथेदं वाङ्मयं विश्वमप्सु समर्पितमस्तीति स्मृत्वा सर्वमापोमयं जगदाख्यायते । आपो हीमास्त्रिविधामिगवांसहस्राणि । आदित्यगवीनां सहस्राच्चैतन्यम् । अग्निगवीनां सहस्राच्छरीरे प्राणाः । वायुगवीनां सहस्राच्छरीराङ्गानि

जायन्ते। प्रतिसाहस्रं त्रिंशता त्रिंशता गवामहर्गणा भवन्ति। अह्नां च षट्कारो वषट्कारः स आतानयज्ञः प्रजापतिः ॥५॥ अथ आपोमयं चेदं सर्वं प्राणे प्रतिष्ठितं प्राणमयं विद्यात्। सप्तपुरुषश्चायमेकःपुरुषः प्राणमयस्य रूपं भवति ॥६॥ तदित्थं पञ्च पञ्चजना हीमे षञ्चप्रकृतिकमेकं ब्रह्म। अपिचाहुः–

प्राण[१] आपो[२] वाग्[३] अन्नान्नादा[४]विति चतुर्मुखो ब्रह्मप्रजापतिः। यत् खलु दिवः परस्तात् पृथिव्याअवस्ताद्, यच्चं तदन्तरा द्यावापृथिव्यौ किञ्चित् सर्वं खल्विदं ब्रह्मप्रष्ठितं ब्रह्मविज्ञायते। प्राणः खल्वय वायुः। स नान्तरेणाकाशं संचरति। संचरन्ति चेमानि सर्वाणि दृश्यन्ते। तस्मादाकाशे तदोतं च प्रोतंच। वागाकाशः स्थितिलक्षणः। प्राणोवायुर्गतिलक्षणः। तावेतौ वाय्वाकाशौ यजुः पुरुषः। यच्च जूश्चेति व्युत्पत्तेः तदेतदाकाशं परमं व्योम नाम ॥ ७ ॥ अथैं तदाकाशमक्षरपुरुषे परमे ब्रह्मणि तदोतं च प्रोतंचास्तीति विद्यात्। तदेतदन्तर–तमं परमान्थानम् ॥ ८ ॥ स एषोऽक्षरः सर्वेषामेषामेक आत्मा। श्रूयते च–
यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाश्च प्रतिष्ठितः। तमेवमन्ये आत्मानं विद्वान्ब्रह्मा मृतोऽमृतम्। तदित्थमेकमक्षरं पंचब्रह्माणि द्वे शुक्रे– इत्येव * मष्टावास्थानानि प्रत्यर्थं विजानीयात्।

. . .

---

* — १– अक्षरपुरुषः– अमृतम्

यजुः { २– परमाकाशः – यजुषोजूः – ब्रह्मयत्
यजुः { ३– सप्तर्षिप्राणवनः प्रजापतिः – ब्रह्मयजुषोयत्

४– गोसहस्रत्रयरूपापोमयः – ब्रह्मयजुषोयत्

५– वाङ्मयः – ब्रह्मयजुषोयत्

६– अग्निषोमीयः – ब्रह्मयजुषोयत्

७– अमृतशुक्रमयः — शुक्रम्

८– मृत्युशुक्रमयः — शुक्रम्

तत्र तावदिदमाद्यमक्षरं मनः – प्राण – वाङ्मयं सत् सृष्टये प्रवर्तते। "स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः" इति बृहदारण्यक श्रुतेः।

मनःप्राणवाक्षु च प्राण एव प्रधानम्। वाङ्मनसयोरक्रिययोः प्राणाधीन-वृत्तिकत्वात्। प्राणो बलम्। बलाश्रिते हि ते वृत्तिं लभेते। न च ते प्राणेन कदाचिद्वियुक्ते भवतः। तत्र मनो दिग्देशकालानवच्छिन्नमपि प्राणविशिष्टतया प्राणमात्रानुसारेण महच्च भवति क्षुद्रं च। क्षुद्रस्य मनसः क्षुद्रः कामो महतश्च महानित्यनन्तविधं तारतम्य निष्पद्यते। कामबलमात्रानुसारात् तदाश्रितवाचो मण्डलक्षुद्रं महद्वा नानाजातीयमुत्पद्यते। ततोऽनन्तान्येतानि मनःप्राणवाङ्-मयानि प्राजापत्यसंज्ञानि कुरुक्षेत्रसंज्ञानि च ब्रह्मरूपाणिसंभूतानि। प्राणजातय एव त्वनन्तविधास्तद्भेदे हेतुः। "विरूपास इदृषयस्तइद् गम्भीरवेपसः। ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे" (१०/६२/५) इत्याद्याः श्रुतयः प्राणजातीनामनन्तविधत्वे प्रमाणम्। तत्राप्येकैकप्राणसामान्यखण्डे कामाधीना नानाविशेषा अवान्तरा उत्पद्यन्ते। तेषां च विशेषाणां यदविशेषं पौर्विकं प्राणसामान्यखण्डमाख्यातं तमसत्प्राणमाचक्षते ऋषिप्राणं च। न तद्रूपं विद्यमानकार्य्यरूपवदस्तीत्यसदुच्यते स यत्पुराऽस्मात्सर्वस्मादिदमिच्छन् श्रमेण तपसारिषत् तस्माद् ऋषिर्नाम। "असद्वा इदमग्र आसीत्। ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्। प्राणा वा ऋषयः" इति हि वाजिश्रुतिः श्रूयते (६/१/१) प्राणा वा ऋषयो दैव्यासस्तनूपावानस्तन्वस्तपोजाः" (ऐ. ब्रा. ६ अ. ३ ख.) इत्यैतरेयश्रुतिश्च। तस्मादेवासदभिधानाद् ऋषिप्राणखण्डात् तदन्तः सृष्टयो जायन्ते। तत्र प्राणा वा ऋषयस्तन्वस्तपोजाः — इति श्रुत्या ऋषि-प्राणानां तपसा सृष्टिजनकत्वमवगम्यते। तथाहि–अव्ययपुरुषालम्बनः क्षरपुरुष साधनो विश्वव्यापी कश्चिदक्षरपुरुषः प्रकृत्या विशिष्टः सन् प्रकृतिब्रह्मणः पाञ्चविध्यान् पञ्चधात्मानमाधत्ते– स प्राणमयः स्वयंभूः। स आपोमयः परमेष्ठी। स वाङ्मयः सूर्य्यः। सोऽन्नमयश्चन्द्रः। सोऽन्नादमयः पृथ्वीलोकः।

तत्र स्वयंभूः सत्यलोको[७] द्यौः। परमेष्ठी जनल्लोकः[५] पृथ्वी। तयोरन्तरतोन्तरिक्षं तपोलोकः[६]। अथ परमेष्ठी द्यौः। सूर्य्यः पृथ्वी। तयोरन्तरतोन्तरिक्षं महर्लोकः[४]।

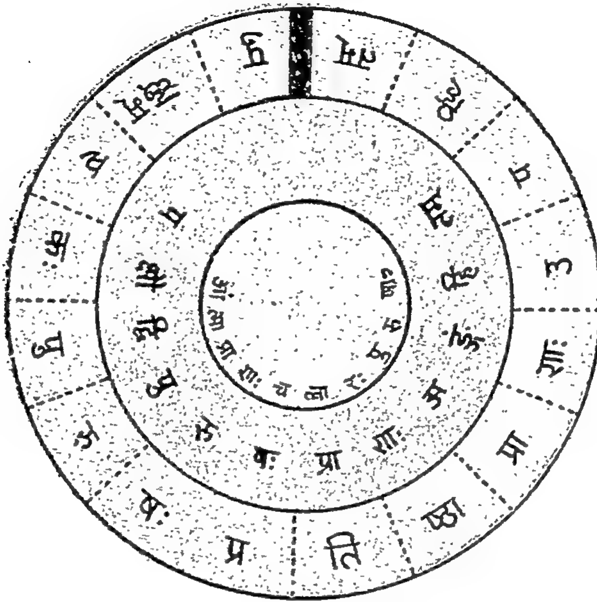
अथ: सूर्य्यः[३]स्वर्लोको द्यौः । इयं पृथिवी पृथ्वी । तयोरन्तरतोऽन्तरिक्षं[२] भुवर्लोकः । अथेयं पृथ्वी भूर्लोकः[१] । तेऽमी सप्तलोका उत्तरोत्तरं क्रमेण संनिविशन्ते । तत्रायं सत्यलोकः स्वयंभू ब्रह्माग्निलोकः । ऋक्सामयजुषां यजुर्ब्रह्माग्निरुच्यते । यच्चजूश्चेति व्युत्पत्त्या वाय्वाकाशभेद भिन्नोऽयं ब्रह्माग्निः तत्रानन्ता वायवोऽमी ऋषयउच्यन्ते । ते द्विविधाः – उन्मुग्धावयवा उद्बुद्धावयवाश्च । आद्या असत्प्राणाः सत्यलोकेऽवतिष्ठन्ते । अथैते तपोलोकमागत्यतप्यमानाः परिक्षुब्धाः सन्तः क्रमेण तृतीये पारमेष्ठ्ये–जनल्लोके समागता उद्बुद्धावयवा भूत्वा द्वितीयाः पितरो जायन्ते । तपोजाहीमे तपसैव नानारूपा जायन्ते । तत्रोद्बोधावस्थायामवयवधर्मतो भेदादमी ऋषयो–ऽनन्तविधा भवन्ति । तेषु द्वादशाभिस्तुतयः स्मर्य्यन्ते–भृग्वङ्गिरसौ, अत्रिमरीची, पुलस्त्यपुलहौ, क्रतूदक्षौ, वसिष्ठागस्त्यौ, विश्वामित्रविश्वकर्माणौ इति । त एते पितृसंज्ञाः सृष्टिकर्तारः प्राणा वाच्येव योनौ आत्मानं सिञ्चन्तोऽक्षरपुरुष मनोविशेषगृहीतवलप्रयोगाद् विभिन्नरूपा एताः सर्वाः सृष्टीरुत्पादयन्ति । तथा चैतरेयश्रुतिराह – "प्राणो वा आयुः । प्राणोरेतः । वाग् योनिः । योनिं तदुपसंधाय रेतः सिञ्चति । रेतस्तत् सिक्तं विकरोति । सिक्तिर्वा अग्रेऽथ विकृतिः । रेतस्तद्विकृतं प्रजनयति । विकृतिर्वा अग्रेऽथजातिः" (१०/३८/३६) इति । एष च प्राणो मनसेषितो वाचि सिच्यते । "सोमो वै रेतोधाः ।" इति बहुधा श्रवणात्, सोममयं मन एवादौ कामयते, मानसंरूपं प्रकल्प्य तदर्थं प्राणं नियुङ्क्ते । प्राणेन चाहता वाग् विक्रियते । त्वष्टा रूपाणि विकरोति । स एष सर्वसृष्टिसर्वसाधारणो नियमः ॥

## प्राणस्य सप्त विभागाः ।

अक्षरगताकाशेप्राणवायुश्चतुर्धा व्यासज्जते — इन्द्रः आत्मा पक्षौ पुच्छम् ।

अथैष तावदृषिप्राणः स्वभावात परिमण्डलरूपः प्रायेण संपद्यते । तद्यैतत् परिमण्डलं वर्ष्म स्वभावतस्त्रेधा विभज्यते । अभयं सामन्त पारावतञ्च । मध्यंवैनाभिः, मध्यमभयम् (शत. १/१/२/२३) एष खलु मध्यमः प्राणो द्वेधोपपद्यते – स वीर्य्यो वा क्वचिन्निर्वीर्य्यो वा । ब्रह्म क्षत्रं विडिति वीर्य्याणि (पृ. १/८२/६१) तत्र ब्रह्मवीर्य्यत्वे दिव्य भावोपपन्नो

प्राजापत्यकुरुक्षेत्रे अक्षरस्तरोपरि[१] आकाशस्तर:[२] प्राणस्तरश्च[३] ।



१- अक्षर: मूलाधार: अर्द्धमात्रामय: । अक्षरे ओतप्रोतआकाश: ।

२- अथार्द्धमात्रायामाकाश: प्राणमय: । आकाशे ओतप्रोता:प्राणा: ।

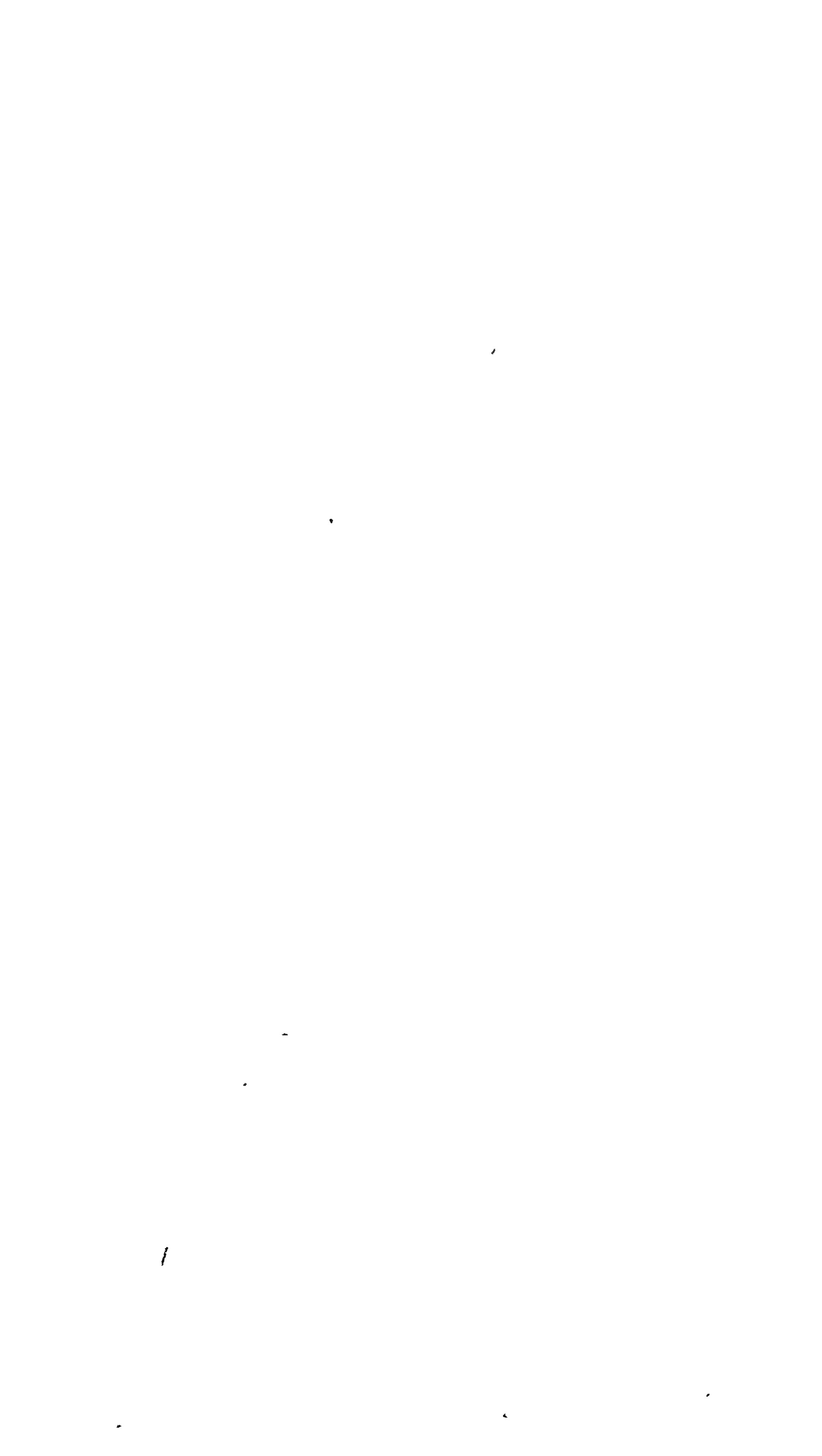
३- प्राणस्त्रेधा विभक्त:— आत्मा पक्षौ पुच्छं च ।पुच्छंशरीरप्राण: ।

४ २ १<br>
अ उ म्

अ- चक्षुश्चैतन्यमादित्यप्राणस्य गाव:सहस्रम् । आत्मा

उ- प्राणा:सर्वेअग्निप्राणस्य गाव: सहस्रम् । पक्षौ

म्- गात्राणि शरीरं वायुप्राणस्य गाव: सहस्रम् । पुच्छम्



ऽयमात्मा प्रशान्तवृत्तिर्धृतिमान् शान्तिप्रधानो ज्ञानशीलः संपद्यते। क्षत्रवीर्य्यत्वे वीरभावतया स्वतन्त्रवृत्तिर्महोत्साहः क्षोभप्रधानः पराक्रमणशीलः संपद्यते । विड्वीर्य्यत्वेपशुभावतयाऽन्यानुरोधी परतन्त्रवृत्तिराश्रयसापेक्षः परार्थव्यवसायशीलः संपद्यते। एतानि सवीर्य्याणां रूपाणि। निर्व्वीर्य्यस्तु मृतप्रायभावोपपन्न आत्मा पराभिभवनीयो लघुत्वादधीरत्वाच्चाशु द्रवणशीलो-भवति। यद्यपि सर्वएवात्मा मनःप्राणवाङ्मयत्वात् त्रिवीर्य्य एवास्ति तथापि वैशेष्यानुरोधिनि व्यपदेशे पृथगिव वीर्य्यं ससाख्या क्रियते । तथा चायमात्मा चतुर्विधो व्यवतिष्ठते — ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चेति । चन्द्रस्यात्मा ब्राह्मणः। सूर्य्यस्य क्षत्रियः। पृथिव्या वैश्यः । एतेषु सतां पशूनां त्वात्मा शूद्रः — इति विवेक्तव्यम। विशेषानादरे तु सर्वत्र ब्रह्मक्षत्रवीर्य्यानु-रोधात् प्रजापतिशब्दश्चेन्द्रशब्दश्च प्रयुज्येते। तत्र "प्रजापतिश्चरतिगर्भे" इति श्रुतेः स प्रजापतिरुच्यते। अपि च – तदध्याश्रितास्तन्नहनाः समन्तात प्राणाः प्रथन्ते इत्येतेषां सामन्तप्राणानामेष मध्यमः प्राण इन्द्रः। स मध्यतः सन्निन्धे सामन्तान् प्राणानितीन्धः सन्निन्द्र उच्यते। इद्धाश्चैते सामन्तप्राणाः सप्तधा विभज्यन्ते — नाभेरूर्ध्वमधस्ताच्च द्वौ द्वौ पुरुषाविति चत्वारः प्राणा आत्मा सोऽङ्गी। ततो बहिर्धा त्रयः पुरुषाः पक्षपुच्छानीत्यङ्गानि। तथा च "त्रिवृद्वै चक्षुः शुक्लं कृष्णं लोहितम्" (३/५) इति कौपीतकश्रुतेः कनीनिकाकृष्णशुक्लै रक्षिवदिदं वर्तुलवृत्त त्रिवृद्रूपं संपद्यते — मध्यविन्दु-रनिरुक्तोऽक्षरपुरुषसंपरिष्वक्तः प्राण इन्द्रः[1], स एको भागः। तं परितश्चत्वारः प्राणाः आत्मा[2], स द्वितीयो भागः। तं परितो द्वौ पक्षावेकं पुच्छमिति त्रयः प्राणा अङ्गानीति[3] तृतीयो भागः। अत्राङ्गिप्राणविगमे साङ्गोपाङ्गं विनश्यति। किन्तु यद्विगमे सत्यपि नाङ्गी स्वसत्तातश्च्यवते तदङ्गम्। यथा हस्तपादादि-विगमेऽपि प्राणी जीवत्येव, नाभिहृदयमस्तिष्कावात्मप्राणापाये तु सद्यः प्राणी म्रियते। तेनैतत्कायारम्भकाणां प्राणानां मध्येन्द्रेणोपनहनतारतम्यान्मुख्या-मुख्यत्वाभ्यां भेदोऽवकल्पते। यत्र यत्र प्राणोनार्थस्तत्र सर्वत्रैवमिन्द्रात्माङ्गभेदात्

त्रैविध्यमिति साधारणो नियमः ( शत. ६/१/१ ) तच्चेदमात्मप्राणाङ्गप्राण-द्वैविध्यकृतं रूपमिन्द्रस्यात्मनोऽधिष्ठानं शरीरारम्भकभूतानामायतनं विज्ञायते ।

| इन्द्रः | आत्मा | अङ्गानि | प्रजापतिः |
|---|---|---|---|
| १ | ४ | ३ | ७ |

अथैतेषां सप्तानामङ्गाङ्गिपुरुषाणां श्रीभिरिन्द्रसमिन्धनविशेषादूर्ध्व मुदूढरसरूपाभिः पृथगिवामृतं सप्तप्राणरसमेकपुरुषमात्रं शिरो भवति । यस्यैतच्छिरस्तच्छरीरं तन्मर्त्यम् । वाक्प्रधानं प्रसुप्तमिव निश्चेष्टं शरीरम । प्राणप्रधानं जाग्रदिव कुर्वद्रूपं शिरः । शिरसि च शरीरे च पृथगिव सप्त सप्त प्राणाः श्रयन्ते । देवप्रधानं शिरः प्राणसत्रं तत्रैतानि भूतानि देवानाश्रयन्ते । आहुतयश्च देवेभ्यः क्रियन्ते न भूतेभ्यः । तेनेदं भौतिकं शिरः कृश्यतो न कृश्यति मेद्यतो न मेद्यति । अथ भूतप्रधानमिदं शरीरं, तत्रैते देवा भूतान्याश्रयन्ते । आहुतयश्च भूतेभ्यः क्रियन्ते न देवेभ्यः तेनैते देवाः कृश्यतो न कृश्यन्ति मेद्यतो न मेद्यन्ति ।

तत्र शारीरैः सप्तभिः पुरुषैरेकः पुरुषो भवति तमेतं पुरुषमग्निरित्याचक्षते । सोऽयं वागापसहकृतः शुक्रोऽग्निर्द्विविधः — मर्त्यश्चामृतश्च । यो मर्त्यः सोऽग्निश्चित्यो नाम । यथा मनुष्यशरीरे लोमत्वगसृग्वसामांसास्थिमज्ज शुक्राणि चीयमानानि चित्योऽग्निर्भवति एष मर्त्यः प्रजापतेरर्द्धभागः । तत्र सर्वाणि भूतानि श्रितानि ॥ १ ॥ अथैतत्सप्तपुरुषप्रासंभूतैः शिरस्यैः सप्तभिः प्राणैरेकः प्राणो भवति । सोऽग्निरमृतश्चितेनिधेयो नाम । येन येन रूपेणाय चित्योऽग्निश्चीयते । तत्र सर्वत्रायं तत्तदभ्यन्तरेऽनुस्यूतो भवतीति चितेनिधेय इच्यते । सोऽमृतः शुक्रोऽग्निर्वागापःसहकृतः प्रजापतेरर्द्धभागः । तत्र सर्वेदेवाःश्रिताः । अत्रहिसर्वेभ्योदेवेभ्योजुहवति ( शत. ६/१ ) इति वाजिश्रुतौ श्रूयते । अपि च मन्त्रः पठ्यते " अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः । स्वाहाकृत्य ब्रह्मणाते जुहोमि मा देवानां मिथुयाऽकर्भा-

गधेयम्" (तैत्ति//१/३/७/१४) इति तैत्तिरीयपाठः। अथर्ववेदे यजुर्वेदे चायं किञ्चित्पाठभेदेन पठ्यते। मर्त्येऽग्नावमृतोऽग्निः प्रविष्टो भवति। इत्थं चातिक्षुद्रं कृमिकीटशरीरं वा महाविशालं जगद्ब्रह्माण्डरूपमीश्वरशरीरं वा सूर्यश्चन्द्रः पृथ्वी वा यावदिदं किञ्चिद् दृश्यते तत्सर्वमेकैकं कृत्वा बहिःशरीराभ्यन्तरप्राणाभ्यां द्विविभक्तं मर्त्यामृतमयं विद्यात्। इन्द्र एव च मर्त्यामृताभ्यां द्वेधा विभक्तात्मा तेषां सप्तानां चित्यानां सप्तानां चितेनिधेयानां चैकः संनह्नः प्रतिष्ठेत्येवमिन्द्रामृतमर्त्त्यैस्त्रिवृद्भावं सर्वत्र विद्याद्।

| प्रतिष्ठा | उक्थम् | | | साम |
|---|---|---|---|---|
| इन्द्रः | अमृतम् | मर्त्यम | पशुः | |
| | आत्मा ४ | आत्मा ४ | | |
| | अङ्गानि ३ | अङ्गानि २ | | |
| | देवाः | भूतानि २ | | |

## पशवः

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। "इन्द्रस्य युज्यः सखा" (ऋ.) इतिश्रुतेर्विष्णुसहायोयमिन्द्रोऽमृतैः शिरोधातुभिर्मर्त्यैश्च शरीरधातुभिः सहोत्थायोत्थाय तदिन्द्रसहचारिणा विष्णुनासमाकृष्टानामागन्तुकानां दिव्यरसानामाहुत्या यज्ञजन्यं मर्त्यामृतधातुमयं रूपान्तरं धारयमाणास्तदुभयाश्रित एव प्रतितिष्ठति। यथा भूपृष्ठे शिलाजतुगैरिकादयो दूर्वावनस्पत्यादयः कृमिकीटमनुष्यादयश्च। त इमे सर्वे पशुशब्देनाख्यायन्ते। तत्र यो यज्ञस्तं

शिपिविष्टमाचक्षते । "पशवो वै शिपिविष्टम्" (१/६/८) एषा वै प्रजापतेः पशुष्ठातनूर्यम् शिपिविष्टम् । (१/११/६) ।। इति मैत्रिश्रुतेः ।। परे त्वाहुः– शिपयो रश्मयः । रश्मिमण्डलस्यान्तर्विष्टं यत्पशुमयं प्रतिष्ठारूपं तच्छिपिविष्टं यथैषा पृथिवी यथा द्यौः प्राणिशरीरं वेति ।

असंज्ञान्तःसंज्ञससंज्ञजीवानां पशुत्वम् ।

यद्यपि "एषा वाव पश्विष्टका यद् वैष्टका" इतिवाजिश्रुतौ (६/२/१) "औषध्यात्मा वै पशुः" इत्यैतरेयश्रुतौ च (६/०/०) । अन्तःसंज्ञजीवा–नामेवौषधिवनस्पतीनां पृथिवीपोषाणां पशुत्वमाख्यायते । तथापि पोषत्वाविशेषात् तदसंज्ञानांससंज्ञानां च जीवाना मुपलक्षणमास्थेयम् । पोषत्वं पशुलक्षणमिति यै रुपकरणैरस्याः पृथिव्याः पोषस्तेषु सर्वेष्वेव समानन्यायात् पशुत्वोपपत्त्या त्रिविधानामपि जीवानां पशुत्वाभ्युपगमात् । एतेभ्योऽन्येषामप्युपकरणत्वा–विशेषात्पशुत्वमिष्यते ।

छन्दांसि पोषा अन्नानि सलिलान्यग्नयोऽपि च ।
पञ्चैते पशवः प्राण धृता आत्मनि शेरते ।।

इति वचनात् ।।

अन्तरिक्षे दिवि चैवं पशवः केचनोपपद्यन्ते तानिह पशुसमाम्नाये प्रदर्शयिष्यामः ।।

अमृतमर्त्यसामपशूनां प्राणमयवाक्त्वम् ।

यद्यपि प्राणाधारेणैव त्रिष्वपि लोकेष्वित्थममृतेन । सार्धं मर्त्यं पशुं चावोचाम । तथापि तं तं प्राणं वाङ्मयं मनोमयंचाव्यभिचारेण विद्यात् । वागेव च तत्र यश इति वाचमेव नून सर्वं वक्तुं प्रभवामः । अतएव मैत्रायणश्रुतौ

१ "अन्नं वै वाजः। वागधि वाजस्य प्रसवः। सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत् — एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणी। पशुषु तुरीयम्। या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे। याऽन्तरिक्षे सा वाते सा वामदेव्ये। या दिवि सा बृहति सा स्तनयित्नौ। अथ पशुषु" (१।१।१।५) इत्येवं लोकत्रये ऽप्यमृतमर्त्ययोरुकथयोः साम्नश्च वाक्त्वमाख्याय प्रतिलोकं पशुभावस्य वाक्त्वमाचष्टे। स्तनयित्नुरिन्द्रः। * यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौ रिन्द्रेण गर्भिणीति। मन्त्रश्रुतेः दिव्योऽयमिन्द्रः पूर्वोक्तान् सर्वान्तरतमादात्मरूपान्नभ्येन्द्रादतिरिच्यते। अग्निवातेन्द्रा अमृताः अन्तरतमाः आत्मरूपाः गतिमन्तो यजूंपि प्रथमा विभूतिः। पृथिव्यन्तरिक्षदिवो मर्त्याः लोकाः पिण्डरूपा मूर्तयऋचो द्वितीया विभूतिः। रथन्तर वामदेव्यबृहन्ति सामानि प्राणमयसहस्राणि वहिर्मण्डलरूपाणि तृतीया विभूतिः। अथ पशवः पराश्रितात्मानश्चतुर्थी विभूतिः। तदित्थं मनोमयप्राणगर्भिता वागियमेकधैव

१

| अन्न प्रसवः— शुक्रंवाक् | यजुपि आत्मनि— अमृते उकथे | ऋचि लोके मर्त्ये उकथे | सामनि अर्के | |
|---|---|---|---|---|
| मनोमयप्राणगर्भितावाक्— स्वयंभुवि | १ अग्नौ | पृथिव्याम् | रथन्तरे | पशुषु |
| " " " | २ वाते | अन्तरिक्षे | वामदेव्ये | पशुषु |
| " " " | ३ इन्द्रे स्तन— नयित्नौ | दिवि | बृहति | पशुषु |
| " " " | ४ .... | पशुषु | .... | |

* यथाग्निगर्भा पृथिवी, यथा द्यौरिन्द्रेणगर्भिणी। वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि ते। (शत. १४।७।५. । ५ ब्रा.। २१ क.।) इति।

सती लोकत्रयपशुभेदाच्चतुर्धाविभूयान्नं वाजं प्रसूते । " चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति " ( ऋ. सं. १।१६४।४५ ) इति मन्त्रोऽप्यत्रानु-संधेयः ।

## पशुषु वीर्य्यनिरुक्तिः ।

अत्रैषां पशूनामात्मनो यद्यपि निर्वीर्य्यत्वं प्रागाख्यातं तथापि तदाश्रय-पृथिव्याद्यपेक्षयाऽत्यल्पवीर्य्यतया तत्रेयम् । वस्तुतस्तु तेषामत्यात्मनोऽपेक्षाकृतं ब्राह्मणत्वं क्षत्रियत्वं वैश्यत्वं शूद्रत्वं वा यथायथं तारतम्यादुपपन्नं दृश्यते । निर्वीर्य्यैक वीर्य्य–द्विवीर्य्य–त्रिवीर्य्याणामुत्तरोत्तरं चाधिकं माहात्म्यं कल्प्यम् ।

## पशूनामात्मनोऽर्धेन्द्रत्वम् ।

इदमत्रापरं द्रष्टव्यम् । सूर्य्यचन्द्रपृथ्वीनामात्मा पूर्ण इति कृत्वा सर्वतः समानभावेन विभवनाद् वर्तुलवृत्तत्वमस्य प्रागाख्यातम् । किन्त्वेतस्मात् प्रजापते र्विस्रस्तरसानामेकदिक्प्रचारितया तदुपपन्नस्यात्मनोऽर्धेन्द्रत्वमेवोपपद्यते । तत्र सूर्य्यदिग्विस्रस्तरसादाग्नेयदिग्विस्रस्तरसाद्वा पुंसामात्मा । सूर्यविपरीतदिग् विस्रस्तरसात्सौम्यदिग्विस्रस्तरसाद्वा स्त्रीणामात्मा उभयं चैतदर्धमर्धं तस्मादपूर्णम् ।

अर्धत्वादेवायं पशूनामात्मा प्राक् सवीर्य्यो भवति प्रत्यक् तु निर्वीर्यः । वृक्षाद्यन्तःसंज्ञानां कृम्यादिससंज्ञाना चात्मा न चतुर्दिक्षु समं वीर्य्यं लभते । वृक्षादीनां मूलरूपाया नाभेरूर्ध्वमत्यन्तमधस्तादत्यल्पं वीर्य्यम् । ऊर्ध्वं शाखोप-शाखादिविकाशेऽपि मूलादधस्तिर्य्यग्दिक्षु तद्विकाशादर्शनात् । चेतनशरीरस्य च नाभेरूर्ध्वावरविकाशेऽपि पार्श्वयोस्तथा विकाशाभावात् । पुंसः स्त्रियो वा शरीरे मेरुदण्डोऽर्धतमादेव विषुवन्मण्डलात् प्रजायते । " यथा वै पुरुषः एवं विषुवान् । तस्य यथा दक्षिणोऽर्द्धः— एवं पूर्वोऽर्धो विषुवतः । यथोत्तरोऽर्धः— एवमुत्तरोऽर्धो विषुवतः । अवाहुक्-सतः शिर एव विषुवान् । विदलसंहित इव वै पुरुषः । ( १८ अ./८ ख. ) इत्यैतरेयब्राह्मणश्रुतेः ।

अपूर्णत्वादर्धत्वादेवायमिन्द्र आत्मानमपर्य्याप्तं मन्यते तस्मादेकाकी न रमते तद्द्वितीयमिच्छति। यत्तु मूढतमस्य विज्ञतमस्य वा स्वात्मारामत्वं क्वचिदेकाकिनो दृश्यते तद् द्वितीयेच्छावैकल्यमात्रम्। तत्रापि मूढतमस्य द्वितीयसंसर्गजनितानन्दसंग्रहोपचाराज्ञानत्वनिबन्धनमकामत्वं, विज्ञतमस्य तु स्थितिप्रज्ञत्वनिबन्धनमकामत्वं हेतुः। अरतिस्तु विश्वोद्वेगलक्षणा स्वात्मारामेष्वपि नापवार्य्यते। तस्माज्जीवात्मनोऽपूर्णत्वं सिद्धम्।

अपि च प्राणिशरीरोपादानभूतानां रेतसामर्द्धमर्द्धं विभज्य स्त्रीपुरुषौ प्रसुवाते न त्वेकैक आत्मा कार्त्स्न्येन रेतः प्रत्याधातुमीष्टे। उभाभ्यां चात्मभ्यां प्रसूतयो रेतसोः संसृष्ट्या चैक आत्मा निष्पद्यते। तथा च कार्त्स्न्येन रेतोविनियोगसामर्थ्यादर्शनादात्मनोऽर्धवीर्य्यत्वं प्रतिपद्यामहे। अर्द्धवीर्य्यत्वाच्चार्धेन्द्रत्वं ब्रूमः। अतएव च।

### स्त्रीपुंयोगात् पूर्णात्मत्वम्।

यत्र पुमान् कृतदारो भवति अथैव पूर्णः संपद्यते। तथा च श्रूयते वाजिश्रुतौ— "अर्धमुहैतदात्मनो यन्मिथुनम्। यदा वै सह मिथुनेन— अथ सर्वोऽथकृत्स्नः" इति (८।७।२।३)। अपि च तत्रैव— "अर्द्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया। तस्माद् यावज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायते। असर्वो हि तावद् भवति। अथ यदैव जायां विन्दते अथ प्रजायते तर्हिहि सर्वो भवति" (शत. ५/२/१/१०) अपि च तत्रैव "तस्मात् स पुरुषोऽर्द्धवृगलमिव" इति ह स्माह याज्ञवल्क्यः। "तस्माय माकाशः स्त्रिया पूर्य्यत एव" (श. १४/४/२/५) इति। तैत्तिरीयका अप्याहु:— "अयज्ञो वा एष योऽपत्नीकः। न प्रजाः प्रजायेरन् अथो अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी। यज्ञस्य धृत्या अशिथिलम्भावाय" (तै. ब्रा. ३।३।३) इति।

### अर्धेन्द्रात्मनि मनुशब्दः।

तत्र योऽर्धात्माऽयमिन्द्रः पशुशरीरेऽस्मिन्नुपसंनिधत्ते तं मनुमाचक्षते।

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात् पुरुषं परम् " ॥ (मनुस्मृति १२अ.)
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।

चिद्ब्रह्मवायुसूर्य्यचन्द्रपृथिव्यात्मयोनिभेदादेष मनुरप्यर्षिशरीरं ★ चतुर्धा सप्तधा चतुर्दशधा वा विवक्षावशाद् भिद्यते । यद्यपि सूर्य्यरसादेवैतन्मनोः सृष्टिर्मैत्रिश्रुतौ श्रूयते — " स वा विवस्वानादित्यो यस्य मनुश्च वैवस्वतो यमश्च । मनुरेवास्मिन् लोके यमोऽमुष्मिन्निति " ॥ ( १।६।१२ ) सूर्य्यस्यापि ज्योतिर्गौरायुरिति त्रिरसस्यायं मनुरायुषः संपद्यते " मनुः सर्वः । आयुर्वै मनुः " इति कौपीतकि श्रुतेः ( २६।१७ ) ॥ तथाप्येषा श्रुतिर्वैवस्वतं मनुमाचष्टे न स्वयम्भुवादीन् प्रत्याचष्टे । तेषामपि स्वस्वप्रभवादुत्पत्तेः समानन्यायादनिवार्य्यत्वात् । सर्वोऽप्ययमर्धेन्द्रः । यस्तु मनुः सर्व इति कौपीतकिश्रुतौ सर्वशब्दः श्रूयते स विश्वगतार्थानां साकल्यापेक्षो न तु प्रभवरसकार्त्स्न्यार्थः ।

## मनोर्वैराजपुरुषत्वम् ।

अथवा यथा पूर्णोऽयं सूर्य्यस्य चन्द्रस्य पृथिव्याश्चात्मा विराजमनुसंसृजति । विराजा नित्यमनुषज्जते । एवमयमर्धेन्द्र आत्मापि विराज जनयति । विराजश्चाभ्युत्थितादमृतरसादुत्पन्नो वैराजः प्राणो मनुरित्युच्यते ।

" द्विधा कृत्वाऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥
तपस्तप्त्वाऽसृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट् ।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ (मनु. १ अ.३२,३३)

इत्यादि स्मरणात्

★ मनुस्मृतिः ( ६१/६३/३६ )

तस्यामित्युपलक्षणं पुमर्धखण्डस्यापि पूर्णात् प्रजापतेरिवापूर्णादस्मात् प्रजापतेरप्यविशेषाद्विराडुत्पद्यते — इति बोध्यम् । वैराजात्तु मनोः पुरुषात् — ऋषय उपतिष्ठन्ते भृग्वङ्गिरोऽत्रिवसिष्ठादयः। मनोरेव च वेदाउपतिष्ठन्ते। "**मनोऋचो भवन्ति**" ( मै. २।१।५ ) इति मैत्रिश्रुतावृक्पदस्य सर्वेतर-वेदोपलक्षकत्वात । त इमे भृग्वाद्या ऋषय ऋगाद्या वेदाश्चेन्द्रादुत्पन्ना अमृताः प्राणा मर्त्यरसोत्थितेषु शिरस्येष्वमृतप्राणेषु संसृज्यन्ते ॥

## विराट्

### अमृतमर्त्यपशूनां विराट्त्वम् ।

अमृताग्निः, मर्त्याग्निः पाशुकाग्निश्चेत्येतदग्निविशेषत्रितयं संहृत्य विराडित्युच्यते । स त्रिपदाया विराजः प्रथमः पादः पृथ्वी नाम । एवं द्वितीयः पादोऽन्तरिक्षम् । तृतीयः पादो द्यौः । प्रतिपादममृतं च मर्त्यं च तदुभययोग-रूपः पशुश्चेति त्रितयं प्रतिसंहितं द्रष्टव्यम् । "**पशवो वै विराट्**" ( मै. १/६/६ ) इति श्रुतिस्तु समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेऽपि वर्तन्ते इति न्यायादुपपाद्या । चित्यचितेनिधेययोर्मर्त्यामृतयोरन्नप्राणयोरपि विराट्त्वाभ्युप-गमात् । तथाहि "**अन्नं विराट् श्रीर्विराट् अन्नाद्यं श्रियः ।**" (कौषी. १७/३) इत्यादिश्रुतेः इन्द्रस्य भोगोपकरणसाधकोऽन्नकोशस्तावद् विराडुच्यते एषैवान्न-माहृत्याहृत्य स्वान्तश्चरायेन्द्रायोपनयतीत्यन्नं विराडुच्यते । ननु ताण्ड्यश्रुतौ — "**एतद् वै विराजो रूपं यद्गौः**" इति गोशब्देनोपात्तस्य रश्मेर्विराट्त्व-मुच्यते नान्नस्येति चेन्न । "**विरश्मिभिः ससृजे सूर्यो गाः**" ( २५/३ ) इति कौषीतकिश्रुतौ मन्त्रश्रुत्या रश्मिभिन्नस्यार्थस्य गोत्वप्रतिपत्तेः । तथा चेह— "**यज्ञो ह्येवेयं नो ह्यृते गोर्यज्ञस्तायते**" अन्नं ह्येवेयं, यद्धि किञ्चान्नं **गौरेव तदिति** ( २।२।४।१३ ) इति वाजिश्रुतेरन्नमेव गोशब्देन प्रतिपद्यामहे ।

★ अथवा पञ्चतयी गोशब्दप्रवृत्तिः " गौर्वै वाक् । गौर्विराट् । गौः खल्वेव गौः । गौरिडा । गौरिदं सर्वम् । ( मै. सं. खिलकाण्डे गोनामिके २ प्र. ) इति मैत्रायणिश्रुतेः । तत्र चतुर्थी गौः पार्थिवं तेजः ।

★

| | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | प्राणः | वेदः | प्रजापतिः | | आत्मा पक्षौ पुच्छम<br>उक्थप्राणः सामन्तप्राणः प्रतिष्ठाप्राणः | १<br>इन्द्रः । | २<br>आत्मा । | ३<br>प्राणः । | ४<br>पशुः । |
| २ | आपः | लोकः | परमेष्ठी | विराड् गौः | १ वाक् । (४) २ विराट् । (२) ३ गौः । ४ इडा । (४) ५ भोगाः ॥ | | | | |
| ३ | वाक् | प्राणः | हिरण्यगर्भः | मनुः | | | | | |
| ४ | अन्नम् | भूतानि | चन्द्रमाः | | | | | | |
| ५ | अन्नादः | देवाः | पृथ्वी | | | | | | |

वाग् गौर्द्यौरित्येवं त्रिधा विभक्तेषु पृथ्वीरसेषु, द्वितीयो रसः पृथिव्या उत्थाय दिवं यावदभिव्याप्तः सर्वान्नानामुत्पत्तावुपादानभूतो गौरुच्यते । "यो वा इडां धेनुं वेदेत्यारभ्य तस्या वा इयमेव पादः, अन्तरिक्षं पादः, द्यौः पादः, कृषिः पादः ।" इत्युक्त्वा असावादित्यः शिरोऽग्निरास्यं वातः प्राणो गायत्र्यभिधानी त्येवं तत्रैवाख्यानात्। पञ्चमी त्विमे सर्वे भोगा स्तत्रैवोक्ताः । तथाच विराजो गोत्वात् ताण्ड्यश्रुतिरुपपद्यते, सर्वभोगानां गोत्वादन्तःश्रुतिश्च । अथवोपादानकारणे गोशब्दः ततो या योनिरुदशिष्यत स गौरभवत् "योनिर्वै नामैषः" । इतिमैत्रि श्रुतेः । गवामन्नरसोपनायकत्वा च्चान्नत्वम् । ज्योतिर्गौरायुरिति त्रिरसस्य सूर्य्यस्य गोभ्यः सर्वेरसाः सर्वाण्य- न्यानि पृथिव्यामुत्पद्यन्ते तानिन्द्रो भुंक्ते इति बोध्यम । अन्नोर्क प्राणमयत्वा च्चैषा विराडेव यज्ञः । सहीन्द्रप्रतिष्ठस्तदर्थश्चेत्यत एव श्रूयते — "सर्वो वै यज्ञ इन्द्रस्यैव । सेन्द्रो यज्ञः । (श. ११।१।३।४)" ॥ इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता (श. २।३।२।३८)" इति । यज्ञो वै विष्णुरिति बहुधा श्रूयते ।

तेनायं विराड् विष्णुरूपेन्द्रश्चोच्यते । तस्य नित्यमिन्द्रेण संयोगात् । तथा च श्रूयते (१।२२।१९) "विष्णोः कर्म्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा" इति । अन्नं वै व्रतमिति ( ) वाजिश्रुतिः । अपिच प्राणमयकोशे प्रत्यासन्नानां बहूनां प्राणानामपि विराट्त्वमास्थीयते । दशदर्शिनी विराट् (कौषी. १७।३) "दशाक्षरा विराट्" ( ) इत्यादि श्रुतेरस्याः प्राणमयविराजो दशावयवत्वं निर्धारयन्ति । तद्यथा—दश वा एतानग्नींश्चिनुते—अष्टौ धिष्ण्यानाहव- नीयं च गार्हपत्यं च । तस्मादाहुर्विराडग्निरिति । दशाक्षरा हि विराट् । एतान्नु सर्वानेकमिवैवाचक्षतेऽग्निरिति । एतस्य ह्येवैतानि सर्वाणि रूपाणि (श.१०।३।२।२१) इति वाजिश्रुतौ श्रूयते । विभिन्ना वा दशधर्मा यद्विरात्र संहन्यते सा । तद्यथा —

★ प्राणाश्च[1] देवा[2] ऋषयो[3] ग्रहाश्च[4] स्तोमाश्च[5] पृष्ठान्यृतवो[6] दिशश्च[7] ।[8]
छन्दांसि[9] सामानि[10] दशाक्षरैषा विराट् प्रतिष्ठां लभतेऽभियज्ञम् ॥ १ ॥

वाक् प्राण चक्षुः श्रुतयः पुरीष्यं शिश्नं च नाभि र्दशमीति प्राणाः[1] ।
आदित्यवाय्वग्नि त्रिधाभिरग्निस्त्रिधा द्विधा चन्द्रदिशस्तु सोमः ॥ २ ॥

देवा[2] स्त्रयस्त्रिंशदहानि चाग्नीषोमीयरूपं द्विविधाहिदेवाः ।
देवा स्त्रयस्त्रिंशदिहाग्निपूर्वा विष्णूत्तमा एष विराट् स यज्ञः ॥ ३ ॥

स्तोमैर्वषट्कार इहास्ति षड्भिः प्रजापतिः स्तोमचतुष्टयात्मा ।
इत्थं वषट्कारप्रजापति द्वौ त्रयीति देवौ मुनिरैतरेयः ॥ ४ ॥

प्रजापतिः सप्तदशोऽथ नभ्यःस्त्विन्द्रोऽग्नि कौषीतकिराह तो द्वौ ।
यद् ब्रह्म यत् क्षत्रमिति प्रभेदान्नभ्यं द्विधा प्राह च याज्ञवल्क्यः ॥ ५ ॥

इन्द्रो वषट्कार इमौ तु देवौ मतं परेषामपि तत्र नभ्यः ।
इन्द्रो वषट्कार इहास्ति षड्भिः स्तोमैरथो सप्तदशः प्रजेशः ॥ ६ ॥

---

★गौःवाक्—पृथिव्याम्[1] अग्नौ[2] रथन्तरे[3] ॥१॥ अन्तरिक्षे[1] वाते[2] वामदेव्ये[3] ॥२॥
दिवि[1] इन्द्रे[2] बृहति[3] ॥३॥ पशुषु[1] ॥४॥ वाज (अन्न) प्रसवः ।

गौःविराट्—प्राणाः[1] । देवाः[2] । ऋषयः[3] । ग्रहाः[4] । स्तोमाः[5] । पृष्ठानि[6] ऋतवः[7] ।
छन्दांसि[8] । सामानि[9] दिशः[10] । { द्विविधा विराट्—अन्नं श्रीश्च }
{ अन्नं पृथ्वी यज्ञः श्रीरन्नाद्यज्ञः }

गौःइडा—पृथ्वी[1],अन्तरिक्षं[2],द्यौः[3].कृषिः[4] । आदित्यः[1] अग्निः[2] वातः[3] गायत्री
पादः पादः पादः पाद शिरः मुखम् प्राणः अन्निधानी ।
चक्षुः प्राणः तनुः

योऽग्निरादित्य इमेऽङ्गिरस्तो[3] भृगोस्तु सोमोऽपि च वायुरापः ।
भृग्वङ्गिरोभ्यामभिपन्न मेतत् सर्वं तदन्तर्निहिता हि वेदाः ॥ ७ ॥

प्रातःसवे मध्यसवे च सायं सोमग्रहाः[4] स्युर्दशतश्चतुस्त्रः ।
अष्टादशस्तोम[5]विधाः पृथिव्याः पृष्ठानि[6] तु त्रीणि दिवश्च तावत् ॥ ८ ॥

प्रवर्धतेऽग्निः क्रमतोऽथ सोमः प्रवर्धतेऽग्नेः क्रमतो निरोधात् ।
तथा च सोमस्थितितारतम्यादग्नेरवस्था ऋतवः[7] प्रसिद्धाः ॥ ९ ॥

प्राची दिगूर्जा[8] प्रभवोऽस्ति सार्याऽदिग् दक्षिणाऽन्तर्निहता प्रतिष्ठा ।
पृथ्वी प्रतीची जननी श्रियां सा धर्मास्तथापो दिगुदीच्यनूक्ता ॥ १० ॥
(श. ११।१।६।२१)

छन्दो[9] विदुर्वाग्नियतिं द्विधा तद् वाचो हि मर्त्यामृत जातिभेदात् ।
छन्दांसि मर्त्यानि विशेषतोऽष्टौ संकेतितार्थानि निदानशास्त्रे ॥ ११ ॥

आच्छन्दिता वाङ् मनसाविनाकृता विज्ञानमाच्छन्दितमस्ति तन्मनः ।
यागेव वा प्राणमयी मनोमयी मर्त्यामृताच्छन्दनमेति नो मनः ॥ १२ ॥

विज्ञानमाच्छन्दितमुच्यते त्रिधा तद् ब्रह्मनाम्ना[1] तदुपाधिरिन्द्रियम् ।
वेदः[2] स शब्दो यदुपाधिरास्थितो विद्यातु[3] संस्कारमुपाधिमाश्रिता ॥ १३ ॥

गायत्री[1] तु च्छन्दस्तेजो वै ब्रह्मवर्चसं[6] ब्रूते ।
उष्णिक्त्वायु[2] रनुष्टुप्[3] स्वर्गं[8] बृहती[4] श्रियं च यशः ॥ १४ ॥

पंक्तिर्यज्ञं[5] त्रिष्टुप्[6] त्विन्द्रियवीर्य्यं[8] पशुं त्वियं जगती[7] ।
श्रियमन्नं च विराडिति[=] पूर्वे छन्दोनिदानमधुः ॥ १५ ॥

★ वाक्परिच्छेदश्छन्दः ।

१—मर्त्यवाक्छन्दः—

| | | |
|---|---|---|
| ६ गायत्री | — | ब्रह्मवर्चसंतेजः |
| ७ उष्णिक् | — | आयुः । |
| ८ अनुष्टुप् | — | स्वर्गः । |
| ६ बृहती | — | श्रीः, यशः । |
| १० पङ्क्तिः | — | यज्ञः । |
| ११ त्रिष्टुप् | — | इन्द्रियवीर्य्यम् । |
| १२ जगती | — | पशुः । |
| १० विराट् | — | श्रीः अन्नम । |

● छन्दोऽमृतं वेद इति प्रसिद्धं वेदोऽयमृक्सामयजुस्त्रिधातुः ।
त्रिधात्वयं विक्रमणं प्रतिष्ठा याज्ञो रसस्तेऽनुविधाः पृथग्वत् ॥ १६ ॥

● २—अमृत वाक्छन्दः—

ऋक्—प्रतिष्ठावेदः—ऋक्—साम—यजुः ।

साम विक्रमवेदः—ऋक्—साम यजुः ।

यजुः—यज्ञरसवेदः—ऋक साम यजुः ।

---

शास्त्रम् ग्रहः स्तोत्रम्

ऋक् यजुः साम

उक्थं ग्रहः पृष्ठमिति त्रिधारसः प्रजापतेर्यज्ञविधस्य ।

नाभेर्महोक्‌थं[1] वहिरूर्मिवत् ततं महाव्रतं तु प्रथितोऽन्तरूर्मिवत् ।
वाग्योनिरग्निर्जलवत् स वाङ्‌मयो मनोमयः प्राणमयश्च विक्रमः ॥१७॥

( विक्रमः )

विस्रंसतेऽनुक्षणमप्यपानतः प्रपूर्यते प्राणनतोऽप्यनुक्षणम् ।
सोमोऽग्नितामेति च नाभिमागतोनाभेरुपैत्यन्तगतः स सोमताम् ॥ १८ ॥

लोकश्चितोऽग्निः[1] प्रथमोऽन्तरिक्षं महाव्रतं[2] द्यौर्महदुक्‌थमस्ति[3] ।
उक्‌थं दिवं याति महाव्रतं तु स्यादन्तरिक्षे स्थितिरत्रसोऽग्निः ॥ १९ ॥

( प्रतिष्ठा )

वितायते मध्य विराट् परं परं महान्ति पृष्ठानि समांशमास्थिता । (रसः)
उक्थं तु मूलं विततेर्वितायितं सामांशसाम्यात् स रसोऽग्निरुच्यते ॥२०॥
सहस्रपृष्ठानि भवन्ति साम्यात् तानि त्रिशत्या तिसृभिर्दशद्भिः । (३३३)
त्रिभिश्च भक्तानि भवन्ति तत्र प्राक्पृष्ठमृक् साम परं तु पृष्ठम् ॥ २१ ॥
अग्नेःप्रतानं नतु सोम एप प्रतानमायाति समस्य दात्मा ।
त्रयीततोऽग्नित्रितयेऽथसौम्यश्चतुर्थवेदोऽग्नि हुतो बहिश्च ॥ २२ ॥
वितायमानः स रसोऽमृतं दृशं प्राप्तस्ततोऽस्तीति विदन्ति दूरतः ।
वितायमानः स रसोऽभितस्ततो वेदःप्रतिष्ठात्र विराट्प्रतिष्ठिता ॥ २३ ॥
वाचोमितेस्त्रीणि तु सप्त वा चच्छन्दांसि सामानि च सन्ति नाना ।
वदन्ति सामेति वितानसीमां सप्तत्रयो वास्य भवन्ति भागाः ॥ २४ ॥
पूर्वं प्रयाजाः परतोऽनुयाजाः यज्ञस्य तत्रोपयजश्च केचित् ।
सर्वेऽग्नि सोमान्वयनानुकूला धर्म्मास्ततोऽर्था विविधाः क्रियन्ते ॥ २५ ॥
त्रिविक्रमो विष्णुरतस्त्रिपादः पादास्त्रयस्ते त्रय एव लोकाः ।
चित्योनिधेयः पशवस्तदित्थं प्रत्येक लोकेऽग्निरयं त्रिधास्ति ॥ २६ ॥

एकस्य यद्विक्रमणाद्दशेति तस्यापरं विक्रमणाच्छतं स्यात् ।
तस्यापरं विक्रमणात् सहस्रं तथा त्रिधा विक्रमते स विष्णुः ॥ २७ ॥

## पारावत सोमस्य विराडुपरिभक्तित्वम् ।

तदित्थमयं सामन्तप्राणानां प्रपञ्च आख्यातः ॥ अथैतद् विराजो यदूर्ध्वं किञ्चित तत्पारावतं नाम । **अन्तो वै पारावत** इति कौपीतकिराह यदस्मिन् प्रजापत्येऽन्त्यं दृश्यते तत्पारावतम् । पारावतः सोमो विराडऽग्निः । ताभ्यामयमिन्द्रः समाधीयते । ननु–"**वैराजः सोमः । अन्नंविराट् ।अन्नं सोमः । यश उ वै सोमो राजाऽन्नाद्यम्**" ( ६।६ ) इति कौपीतकिश्रुतौ सोमस्यापि विराज्येवान्तर्भाव इतीन्द्रविराड्भ्यां द्वैतमेव प्राप्नोति–इति चेत सत्यम् । तस्याः श्रुतेर्द्यावा पृथिव्यन्तर्गत सोमाभिप्रायकत्वाददोषात् । अप्स्थानो ह्ययं सोमः । द्विविधं ह्यपां स्थानं–पृथिव्या उपरिष्टादादित्या दुपरिष्टाच्च । "**अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवां ऊचिषे धिष्णयाये । यारोचने परस्तात् सूर्य्यस्य याश्चावस्ता दुपतिष्ठन्तआपः**" (ऋ.सं. ३।२२।३) इति मन्त्रश्रवणात् । तत्रादित्या दूर्ध्वस्य सोमस्य पारावत त्वं ब्रूमः । अधस्तात्सतस्तु सोमस्य विराट्त्वं न प्रतिरुध्मः । तस्यप च तदन्नत्व निबन्धनमग्न्याहुतसोमस्य विराट्त्वं गौणं द्रष्टव्यम् । अन्नं विराट् अन्नं सोम इति हेतूपन्यासेन विवक्षितत्वागतेः । अन्नग्राहि कोश लक्षण यज्ञ रूपत्वन्तु विराट्त्व मग्ने रेवोपपद्यते । "**अग्निर्वै यज्ञः**,, **एष वै यज्ञो यदग्निः** ( श २।१।४ ) इति श्रुत्या सोमाहुतिलक्षण प्रदेशस्यैव यज्ञत्वेन विराट्त्व सिद्धान्तात् । **उभा जिग्यथु र्न पराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्चनैनोः । इन्द्रश्च विष्णो यदुपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्** इति मैत्रि श्रुतौ ( २।४।४ ) ऋ० सं० ६।६६।८ पठिते मन्त्रे विष्णुमन्त्रप्रसिद्धस्य विराजः साहस्रत्वेनैव सिद्धान्तितत्वात् । तथा हि । व्याख्यातोऽयमैतरेयकश्रुतौ मन्त्रः ।

"इन्द्रश्च ह वै विष्णुश्चासुरैर्युयुधाते । सोऽब्रवीदिन्द्रः । यावद्देवायं विष्णुस्त्रिविक्रमते तावदस्माकमथ युष्माकमितरदिति । स इमान् लोकान् विचक्रमे । अथो वेदान् । अथो वाचम् । तदाहुः किं तत् सहस्रमिति इमे लोकाः । इमे वेदाः । अथो वागिति ब्रूयात्" । (ऐ०ब्रा०२८अ०) इति कौषीतकिनश्च वाचो व्याप्तिमामनन्ति । "एतावान् वै वाचो विकारो भूर्भुवःस्वरिति" ( कौ० ३।५ ) इति । यज्ञस्याप्येतदविनाभाव मैत्रायणीया अप्याहुः— "भूर्भुवःस्वः, एतद्वै ब्रह्मः, एतत्सत्यम् । एतद् ऋतम् । न वा एतस्माद् ऋते यज्ञोऽस्ति" ( १।८।५ ) इति ॥ त्रय्या विद्ययाप्ययं यज्ञः प्रमीयते—"एतावान् वै सर्वो यज्ञो यावानेष त्रयो वेदाः, तस्यैतद् रूपं क्रियते" ॥ "एतद् वै सहस्रं वाचः प्रजातं यदेष त्रयो वेदः" (श.५।४।७।१०) इति ॥ तथा च "अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः" । (१८।२) इति कौषीतकि श्रुत्याः"अथर्वाणां चन्द्रमादैवतम् । आपःस्थानम्" (पू.१।२९) "आपो वै भृग्वंगिरसामायतनं चन्द्रमादेवता वैद्युतश्च" (पू० २।२४) "चन्द्रमा ह्यप्सु चरति (२।६) सोमात्मको ह्ययं वेदः" । (पू० २।७) इति गोपथश्रुतिवचनेभ्यश्चास्य सोमस्य चतुर्थलोकस्थत्वाच्चतुर्थवेदत्वाच्च ततोऽर्वागेव विष्णुविक्रमणासमाप्त्या त्रैलोक्यस्य त्रैविद्यस्यैव विराट्त्वमध्यवसीयते । सर्वकनिष्ठादित्यस्य विष्णोरेव यज्ञात्मकमहाविष्णुशरीरान्त्यावयवत्वात् । तथा चैतरेयश्रुतिः-"अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः । एते वै यज्ञस्यान्त्ये तन्वौ यदग्निश्च विष्णुश्चेति" (१।१।१) कौषीतकिरप्याह—"अग्निर्वै देवानामवरार्ध्यो विष्णुः परार्ध्यः । ताभ्यामेवैतत् सर्वा देवताः परिगृह्य सलोकतामाप्नोति" इति । (७।१) "अग्नाविष्णू वै देवानामन्नभाजौ ( १६।१८ ) इति च" । याज्ञवल्क्योप्याह— "अग्निर्वै यज्ञस्यावरार्ध्यो विष्णुः परार्ध्यः । तत् सर्वाश्चैवैतद्देवताः सर्वं च यज्ञं परिगृह्य दीक्षे इति तस्मादाग्नावैष्णवं निर्वपति" ( ३।१।३।१ )

इति ॥ तथा चाग्नादयोऽष्टौ वसवः पृथिव्या ऋग्वेदस्य च रूपम् । एकादश रुद्रा मध्येऽन्तरिक्षस्य यजुर्वेदस्य च रूपम् । विष्णूत्तमा द्वादशादित्याः दिवः साम्नश्च रूपम् इत्येतावान् यज्ञः । "इतिस्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च मनोर्देवा यज्ञियासः" (ऋ. ८।३०।२) इति मन्त्र-श्रवणाच्च । स विष्णुः स विराट् सोऽग्निः । तत ऊर्ध्वमापो दिशश्चायं चतुर्थो लोको वैद्युतस्याथ सोमस्य ॥ अङ्गिरसो भृगवश्चेति चतुर्थो वेदः स सोमः ततो विराडन्नमिन्द्राय संगृह्णाति ॥ अन्नभूतः स सोमो ऽन्नादाद्विराजोऽति-रिच्यते ॥

## इन्द्राग्निसोमाः प्राजापत्यम् ।

तथा च सर्वान्तरतम इन्द्रः । तमनुपरितो विराड् विष्णुः । तमनुपरितोऽन्नं सोम इतीत्थं त्रिवृत्कृतमिदं सर्वमेकैकं प्राजापत्यं विद्यात् । "यद्वै किञ्च प्राणि स प्रजापतिः । (श. ११।६।१७) इति वाजिश्रुतेः ॥ इन्द्रस्यात्मनोऽग्निरन्त-

| | | |
|---|---|---|
| कृ. रू. ते. त्र. मृ. | सोमः<br>अग्निः<br>इन्द्रः<br>आत्मा<br>प्राणः<br>अशितिः | इन्द्रे तावदग्नेस्तेजः ।<br>इन्द्रे इन्द्रियं सोमात् ।<br>प्रत्यर्थं चेन्द्रायात्मने<br>अग्नौ सोमो हूयते ॥<br>प्राजापत्यम् ।<br>सत्यप्रजापतिरयम् ।<br>इन्द्रः प्रजापतिरात्मा<br>गिरिः पिण्डो मूर्तिः । |

रङ्गम । सोमस्य दिग्भ्यः स्वयमग्निमच्छोपेतत्वात् । स्वभावाच्चायं सोमो वैद्युतेन पुरूपेण संसृज्यते । उभयोराप्यत्वसामान्यात् ॥ एतदेव त्रिवृत्करणं श्रुतं

मैत्रायण्यां श्रुतौ द्वितीयकाण्डे । (१ प्र.४अनु.)—"देवा वै सत्रमासत कुरुक्षेत्रे अग्निः सोम इन्द्रः । तेऽब्रुवन्—यतमं नः प्रथमं यश ऋच्छात् तं नः सहेति । तेषां वै सोमं यश आर्च्छत् । तमभिसमगच्छन्त । स हि यशस्वितमः । स गिरिमगच्छत् । तमग्निरन्वगच्छत् । तौ गिरा अग्नीषोमौ समभवताम् । स वा इन्द्रः शिथिर इवामन्यत । सोऽग्नीषोमा अन्वगच्छत् । ता अब्रवीत् याजयतं मेति । तं वा एतया अग्नीषोमा अयाजयताम् तस्मिंस्तेजोऽग्निरदधाद् इन्द्रियं सोमः । तत इन्द्रोऽभवत् ॥ इति ॥ यज्ञस्थल्यां कुरुक्षेत्रशब्दो निरूढः । प्रत्यर्थं चेन्द्रायात्मनेऽग्नौ सोमो नित्यमाहूयते ॥ "अयं सो अग्निर्यस्मिन् सोममिन्द्रः सुतं दधे जठरे वावशानः । सहस्रियं वाजमत्यं न सप्तिं स सवान् सन् स्तूयसे जातवेदः ॥ (श. ७।१।१।२२)" इति मन्त्रश्रवणात् (सं. १२।४७) ॥

आहूयमानः सोमोऽग्नित्वमापद्यते । अग्निश्चायमिन्द्रमात्मानमाप्याययति । आप्याय्यमानस्त्विन्द्रोऽहरहः स्वर्गं गच्छति—इत्येष क्रमो विमुक्तिं यावन्नोपरमते तस्मात् तत् सत्रम् ॥ अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः नान्तरेण यज्ञं किञ्चिदपीदं वस्तुरूपं धत्ते । तस्मादेकैकमिदं सर्वं देवयजनभूमित्वात् कुरुक्षेत्रम् । बहुष्वेकत्र सन्निविष्टेषु परम्परेणाक्षितेषु यदुल्बणमिद्धा दृश्यते यत्र बुद्धिः प्रथमं संपतति यदन्येषां प्रतिपत्तौ द्वारं भवति तद् यशः । सूक्ष्मस्थूलसन्निवेशे स्थूलं यशः । बाह्याभ्यन्तरसन्निवेशे बाह्यं यशः प्रकाशो यशः । वाजिश्रुतौ द्वादशस्य द्वितीयप्रपाठके, गोपथश्रुतौ पञ्चमस्य विंशे—"मयि भर्गो मयि महो मयि यशो मयि सर्वम्" इति विराजोऽक्षितविद्यायां तृतीयन्तरस्य यशस्त्वमाख्यातम् । इन्द्राग्निसोमेषु च क्रमसन्निविष्टेषु सोमस्तृतीयो भूत्वा द्वयोरन्ययोरक्षितो भवतीति यशस्त्वं सोमस्योपपद्यते । अत एवं "यशो वै सोमः" (४।२।३।६) इति वाजिश्रुतिरपीद्धा श्रूयते । पर्वत इवाग्नेरुद्गीर्णो भागो गिरिः । प्रत्यक्षो मूर्तिपिण्डो गिरिः ॥ अतएवाध्यात्मं वाक् प्राणचक्षुरादीनां ब्रह्मगिरित्वमाख्या तमैतरेयारण्यके ( ऐ. ३। १३। ) । तत्र चान्यदन्यदस्मिन्निगीर्णं भवति—इत्य-

तोऽपि स गिरिरुच्यते । - तृतीयाद्योरग्नेर्गिरिः । तत्र ह्यग्नीषोमयोरेकीभावस्तदङ्गिरसो रूपम् । अग्निरनुगच्छति सोमं सोमश्चात्मानमग्नौ धत्ते । इन्द्रश्चानुगच्छत्यग्नीषोमौ तावपि चात्मानमिन्द्रे धत्त इतित्रयं त्रिष्वर्पितं भवति नैकमन्येन विनाकृतं भवतीति विद्यात् । यत्तु आन्दविद्यायां वाजिश्रुतौ ( ६।१।२।३ ) सोमादर्वाक् सतोऽस्यादित्यस्य यशस्त्वमाख्यातं तदग्निरूपापेक्षम् । अग्निवाय्वादित्यानामग्निरूपाणामुत्तरोत्तरस्तर भावेन विन्यस्तत्वात् क्रमेण तत्र भर्गो महो-यशः शब्दा उपपद्यन्ते । ते चास्मिन्नात्मनीन्द्रे सर्वेऽप्यात्मानं दधते सर्वेषु च तेष्वञ्जसाऽयमिन्द्र आत्माधीयते तस्मादन्योन्यस्यान्योन्य मर्पितं भवति । अथेन्द्राग्निसोमदृष्टौ स्वयं सोम एव तृतीयस्तरो बहिःप्रकाश इति कृत्वा यश इत्यविरोधः ॥

## इन्द्रस्य मनःप्राणवाङ्मयत्वम् ।

पशुना सलोमकं चैतमिन्द्रामृतमर्त्यमयं पिण्डं बीजमित्याचक्ष्महे । तत्र मर्त्यो बीजकोशः । अमृतं मज्जा । इन्द्रस्ताभ्यां सुगुप्तो मुख्यो बीजभागो दलवृन्तात्मकः यथेदं मुख्यबीजं त्रैलोक्यरसाकर्षणैस्त्रिभिः प्राणै स्त्रिवृत्कृतं भवति । तथैतमिन्द्रं मनःप्राणवाग्भिस्त्रिधातुं विद्यात् । मनसा संकल्पयति । प्राणेन प्रयतते । वाचा विकुरुते प्राणो हि मानसं रूपमनु वाचो रूपं सृजति । तत्र मनःप्राणौ वाचमपीत इति वाच उल्बणत्वाद् वाङ्मय आत्मा । वाचश्चेन्द्रे ष्वेकत्वादात्मायमिन्द्र इत्युच्यते । तथा च कौषीतकिश्रुतिराह "तत् सर्वं आत्मा वाचमप्येति । वाङ्मयो भवति । तदेतद् ऋचाभ्युदितम् । नेन्द्राद् ऋते पवते धाम किञ्चनेति वाग् वा इन्द्रः । न ह्यृते वाचः पवते धाम किञ्चन" इति (२।७) ।

## इन्द्रस्यामृतमर्त्यस्य देवयोनित्वं भूतभावनत्वं च ।

तमिन्द्रमाकाशं ब्रुवते । आवपनमाकाशम् । अमृते च तत्राकाशे–इन्द्रवागाख्ये विभतामिन्द्रप्राणानां सर्वे विशेषा देवा उच्यन्ते । आग्नेयानामग्नियाः अग्निवाय्वादित्याः । सौम्यानां तु सौम्या बृहस्पतिदिग्भेदाद् द्विविधाः । ब्रह्मणस्पति-

बृहस्पतिः। विद्युद् दिक्। तदित्थं पञ्चैव सर्वे देवाः। अथ मर्त्याकाशे शब्दवगाख्ये विचरतां मर्त्यप्राणानां रूपाणि भूतान्युच्यन्ते। ध्वनिवाय्वग्नयः संचारिणो विरलावयवाः असंघं स्वभावाः जलमृत्तिके प्रतिष्ठमाने निविडावयवे संघशक्तिविशिष्टे—इति पञ्चैव तानि भूतानि। एषां सर्वेषां समवायाद् भूतग्रामरूपोऽयं प्रतिष्ठा प्रजापतिः पशुप्रजापतिश्चेति बोध्यम्॥

## इन्द्रब्रह्मतो वेदसृष्टिः।

**वेदसृष्टिस्तावत्**। इन्द्रामृतमर्त्यविग्रहोऽयमीश्वरो नामाद्यः प्रजापतिरकामयत। भूयान् स्यां प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत। स ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीं विद्याम्। तमन्वेवान्येऽपि सर्वे प्रजापतयः कामयमानास्तप्यन्तः श्राम्यन्तस्त्रयीं विद्यां नाम ब्रह्म स्वस्वविग्रहे पृथगिवोद्भावयन्ति। कारणधर्मा कार्यधर्मानारभन्त इति न्यायात। सेयं त्रयी विद्यैव तस्य तस्य सर्वस्यात्मनः प्रथमा सृष्टिः। सा सा त्रयी विद्या तस्य तस्यात्मनः प्रतिष्ठा भवति। ईश्वरो वाऽतिक्षुद्रः कृमिकीटो वा सर्वेऽप्येष प्रजापतिः सर्वाणि च भूतानि तस्यां त्रय्यां विद्यायां प्रतिष्ठितानि दृश्यन्ते। ऋग्यजुः सामानि त्रयी विद्या। एषा चोपलक्षणं चतुर्थ्या अप्यथर्वविद्यायाः। अग्नीसोमाभ्यां विभक्तायां सर्वस्यामपि सृष्टावग्निभक्तिरूपायास्त्रय्या विद्यायां अव्यवहितसंलग्नोर्ध्वदेशे सोमभक्तिरूपाया अथर्वविद्याया अव्यभिचारेण सन्निवेशात्। न च सोमाहुतिं विनाऽयमग्निः कुत्रापि रूपं धत्ते। सोमसंस्थैव चाथर्वणीविद्या। "अन्तरा हि भृग्वङ्गिरसो वेदानुह्यभृग्वङ्गिरसो सोमपानं मन्यन्ते। सोमात्मको ह्ययं वेदः" इति गोपथश्रुतेः (५०।७) ऋचामग्निर्दैवतं,यजुषां वायुर्दैवतं,साम्नामादित्यो दैवतमथर्वणां चन्द्रमादैवतम्। (१।२६) इति च तत्रैव श्रूयते। सोऽयं त्रय्यां विद्यायामथर्वविद्योत्तरायां ब्रह्मणि प्रतिष्ठितः प्रजापतिर्ब्रह्मावच्छिन्नत्वाद् ब्रह्मोच्यते। आत्मना ब्रह्मणा सृष्टोऽयं वेदो ब्रह्म। वेदावच्छिन्नस्यैवात्मनः सर्वत्र स्वरूपाधानान्नायं वेदो ब्रह्मणो व्यतिरिच्यते। विशिष्टं ह्येकं ब्रह्मेति विद्यात।

## वेदत्रये सहस्रशब्दः ।

प्रजापतेरेव सन्तायमानस्य सन्तानभूता इमे वेदा अभवन् तथा च मनः-प्राणाभ्यां कृतोदरा वागेवैते त्रयो वेदाः । सोऽयमस्य वाचः सन्तानः सहस्रमित्युच्यते । "एतद्वै सहस्रं वाचः प्रजातं यदेते त्रयो वेदाः" इति श्रुतेः । त्रय इत्युपलक्षणं चतुर्थस्यापि नान्तरीयकत्वात् ॥ तैत्तरीयब्राह्मणे साहस्रस्यास्याग्निपोपत्वं श्रूयते—"अग्निर्न्यवर्तयत स साहस्रमपुष्यत् । पृथिवीन्यवर्तयत सौषधिर्वनस्पतिभिरपुष्यदित्यादि (२ कां० ।।।) तिस्रो वाच ईरयति प्रवन्हिरिति मन्त्रस्येहापि तात्पर्यं सम्भवति ॥ तस्यैतस्य बीजपिण्डस्य शिपिविष्टाख्यस्य विष्कम्भः सहस्रप्रगुणितो यावदवकाशे प्रथमानो ध्रियते तावदवकाशा इमे वेदा इत्यतः सहस्रं नाम । "सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावदित् तत् । सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् । (ऋ० सं० १०।११४।८) इति मन्त्रश्रवणात । तथा चास्य प्रजापतेर्द्वे पृष्ठे सम्पद्येते—इन्द्रामृतमर्त्यपश्वन्तं शिपिविष्टाख्यमन्तः पृष्ठम । सहस्रान्तं तु बहिः पृष्ठम् ॥

## * प्रजापतेर्दशव्यूहाः ।

[१] प्रजापतिश्चेत्थं दशविधः सम्पद्यते—इन्द्रस्तावदनिरुक्तोनभ्यो वा प्रजापतिः । [२] आत्माङ्गलक्षणोऽमृतभागो देवः शिरोऽग्निर्निधेयाग्निर्वा प्रजापतिः । [३] आत्माङ्गलक्षणो मर्त्यभागो मूर्तं शरीरं चित्याग्निर्वा प्रजापतिः । [४] ओषधिवनस्पतिचेतनादि प्राणिजातानि पशुः प्रजापतिः । [५] त्रयी विद्या तु ब्रह्म वा यज्ञो वा सहस्रं वा प्रजापतिः । [६] अथर्ववेदस्तु ब्रह्म वाऽथर्वा वा प्रजापतिः । [७] चातुर्विद्यमात्मनश्छादतम् छन्दो वा प्रजापतिः । [८] मर्त्यान्तः स प्रतिष्ठा वा यज्ञो वा विराड् वा प्रजापतिः । [९] पश्वन्तस्तु विराड् वा शिपिविष्टो वा यज्ञो वा प्रजापतिः । [१०] सहस्रान्तोऽथर्वान्तो वा सर्वः प्रजापतिरिति ॥

द्दित्थं दशविधत्वेऽपि प्रधान्यात् त्रैविध्यमेव नेयम् नम्यइन्द्रोऽनिरुक्तः प्रजापतिः सा प्रतिष्ठा । शिपिविष्टो विराट् प्रजापतिः तदुक्थम् । सर्वे लोकाः सर्वे वेदाः संवत्सरः प्रजापतिः तत्साम । इत्थमेतं त्रिवृत्कृतमात्मानं विद्यात् ।

## प्रजापतेः स्थानानि—

*

| | | |
|---|---|---|
| १ | १ | हृदय । |
| २ | २ | चितेनिधेयाग्निरमृतो देवग्रामः, प्राणाः । |
| | ३ | चित्याग्निर्मर्त्यो भूतग्रामः शरीरम् । |
| | ४ | पाशुकाग्निः, प्राणिवर्गः, पशुग्रामः, पोषाः । |
| | ५ | वेदत्रयम् । |
| | ६ | अथर्ववेदः । |
| ३ | ७ | चातुर्विद्यान्तः । |
| | ८ | मर्त्यान्तः । |
| | ९ | पश्वन्तः । |
| | १० | सहस्रान्तः । |

अत्रेयं वाजिश्रुतिर्द्रष्टव्या—"आपो हवा इदमग्रे सलिलमेवासता अकामयन्त—कथं नु प्रजायेमहीति। ता अश्राम्यत्। तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्मयमाण्डं संबभूव। अजातो ह तर्हि संवत्सर आस। तदिदं हिरण्मयमाण्डं यावत्संवत्सरस्य वेला तावत्पर्यप्लवत। ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्। स प्रजापतिः। स इदं हिरण्मयमाण्डं व्यरुजत्। नाह तर्हि काचन प्रतिष्ठास। तदेतमिदमेव हिरण्मयमाण्डं यावत्संवत्सरस्य वेलासीत् तावद् बिभ्रत् पर्य्यप्लवत। स संवत्सरे व्याजिहीर्षत्। स भूरिति व्याहरत्। सेयं पृथिव्यभवत्। भुव इति तदन्तरिक्षमभवत्। स्वरिति साऽसौद्यौरभवत्। स एवेमान् लोकान् जातान् संवत्सरे प्रजापतिरभ्युदतिष्ठत्। स सहस्रायुर्जज्ञे। सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः। स आत्मन्नेव प्रजापतिमधत्त। स आस्येनैव देवानसृजत। ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त। तस्मै स सृजानाय दिवेवास। तदहर कुरुत। अथयोऽयमवाङ् प्राणस्तेनासुरानसृजत। त इमामेव पृथिवीमभिपद्या सृज्यन्त। तस्मै स सृजानाय तम इवास। तां रात्रिमकुरुत ते अहो रात्रे। स ऐक्षत प्रजापतिः। सर्वं वा अत्सारिषं य इमा देवता असृक्षीति। स सर्वत्सरोऽभवत्। सर्वत्सरो ह वै नामैतद् यत् संवत्सर इति। स ऐक्षत—इमे वा आत्मनः प्रतिमामसृक्षि यत्संवत्सर मिति तस्मादाहुः प्रजापतिः संवत्सर इति। ता वा एताः प्रजापते रधिदेवता असृज्यन्त—अग्निरिन्द्रः सोमः परमेष्ठी प्राजापत्यः। ताः सहस्रायुषो जज्ञिरे ता अर्चन्त्यः श्राम्यन्तश्चेरुः। तत एतं परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यद्यं दर्शपौर्णमासौ ताभ्यामयजत। स आपोऽभवत्। आपो ह वा इदं सर्वम्। तां यत् परमे स्थाने तिष्ठन्ति तस्मात् परमेष्ठी नाम। स परमेष्ठी प्रजापतिं पितरमब्रवीत्। कामप्रं वा अहं यज्ञमदर्शं तेन त्वा याजयानीति। तमयाजयत्। स इष्ट्वा अकामयत अहमेवेदं

सर्वं स्यामिति स प्राणोऽभवत् प्राणो वा इदं सर्वम्, अयं वा प्राणो योऽयंपवते। स प्रजापतिरिन्द्रं पुत्रमयाजयत्। स इष्ट्वा वागभवत्, वाग् वा इदं सर्वम्। तस्मादाहुरिन्द्रो वागिति। स इन्द्रोऽग्नीषोमा वयाजयत् तयोरन्नाद एवान्यतरोऽभवदन्नमन्यतरः। अन्नाद एवाग्नि रभवत्। अन्नं सोमः। अन्नादश्च वा इदं सर्वमन्नञ्च। ता वा एताः पञ्च देवताः एतेन कामप्रेण यज्ञेनायाजयन्तेति॥ (शतः ११।१।६। १। १९),, , निर्वासनेऽभिचरणे च त्सरिधातुः "परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्रआसीत्। तेन स परमां काष्ठामगच्छत्। तेन प्रजापतिं निरवासयत्। तेनप्रजापतिः परमां काष्ठामगच्छत्। तेनेन्द्रं निरवासयत्। तेनेन्द्रः परमां काष्ठामगच्छत्। तेनाग्नीषोमौ निरवासयत् तेनाग्नीषोमौ परमां काष्ठामगच्छताम्"। इति तैत्तरीयक (सं.)निर्वासन प्रयोगात्। प्रजापतेः सर्वात्मनः प्रतिमारूपेण निर्वासनं संवत्सरस्त इमे देवाः। त्सर छद्मगतौ गुप्ता प्रच्छन्ना गतिःत्सरः। यथा मृगयुर्गच्छति। यथा वा शशः शुने व्यापादकायात्मानं गोपायित्वा दूर मपसरति। तथा प्रजापते रसाः प्रच्छन्नं बहिर्धा गताः संवत्सरः इन्द्रवाचं परितोऽग्निरन्नादः। तं परितः सोमोऽन्नम्। सर्वमभिव्याप्यैतदापः प्रचरन्ति। परोवरीणः प्राणो वायु रिन्द्राख्यः पर्य्यन्तमभिव्याप्नोति। एतच्च पृथ्वी चन्द्रविग्रहात्मक प्रजापत्य सम्बन्धेना,ख्यातन्। तत्रैव दिवमभिपद्य दिवा देवानां, पृथ्वी मभिपद्यतु रात्रावसुराणां संभाव्यमानत्वात्! पृथ्व्याः स्वे रश्मयः स्तामसत्वादसुराः। सूर्याहितरश्मयस्तु पृथिव्याघातेन प्रतिफलिता दीप्यमानत्वा-द्देवाः। सूर्य्ये त्विन्द्र प्रकर्षान्नामी असुराः स्थानं लभते। तत्र रात्रेरभावात्। तथाच श्रूयते वाजिश्रुतौ"। "तां स्तत एव पाप्मना विध्यत्। ते तत एव पराभवन्। तस्मादाहुः—नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिद मन्वाख्याने त्वदुद्यते इतिहासेत्वत् तस्मादेतद् ऋचाऽभ्यनूक्तम्"। "न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न तेऽमित्रोमघवन् कश्चनासीत्। मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा युयुत्से,,। इति (श. ११।१।६।१०) प्राणः पूर्वपक्षः आप्यायनक्रमः। तस्य प्रतिपद्दर्शेष्टिः। अपानोऽपरपक्षोऽपक्षयक्रमः। तस्य

प्रतिपत् पूर्णमासेष्टिः । प्राणापानाभ्यां ह्रीमे देवासुरा असृज्यन्तेति दर्शपूर्णमासेष्ट्या तदुत्पत्ति माचष्टे । पृथिव्याः सम्बन्धश्च मैत्रीश्रुतौ श्रूयते । स वै त्रिवृत एव प्राणानायतनमचायत् । तैः प्रजा असृजत । उर्ध्व उदतृणत् पूर्वपक्षः पञ्चदशस्तेन देवानसृजत ते देवा ऊर्ध्वा आप्यायन्त । अवाङवातृणदपरपक्षः पञ्चदशः तेनासुरानसृजत । तेऽसुरा अवाञ्चः प्राध्वंसन्त । दिवा देवानसृजत नक्तमसुरान् । ते देवाः शुक्ला अभवन् कृष्णा असुराः । सत्येन देवानसृजता नृतेनासुरान् ते देवाः सत्यमभवन्ननृतमसुराः । दक्षिणेन हस्तेन देवानसृजत सव्येनासुरान् । ते देवा वीर्यवन्तोऽभवन् । मृद्धाअसुराः स तदेवनाविन्दत् प्रजापतिर्यत्राहोष्यत् । नो अस्यान्यद्धोतृत्वमासीत् प्राणात् । स वा इन्दुमेवान्तरात्मन्नायतनमचायत् । वीर्यंवैप्राणः । वीर्यमिन्द्रः । वीर्य एववीर्यमजुहोत्., इति । अत्र त्रिवृत प्राणः पार्थिवोऽग्निरेकविंशआदि इति तैत्तरीयके परिभाषणात् पृथ्वी विषयकत्वंलभ्यते । पृथ्वी प्राणायतने ह्रीन्द्रप्राणे दिव्य प्राणस्या हूयमानस्याप्यायनापक्षयाभ्यां देवासुर स्वरूपसिद्धिः । अत्रदेवा असुरा इत्युपलक्षण मितरेषामपिनभस्थानामम्भस्थानाम्" । चत्वारिवै नभांसि-देवाः, पितरो, मनुष्याः, असुराः, ( सर्वेषु हवा एतेष्वम्भो नभ इवेति मैत्रिश्रुतेः । ( खिलकां.गो. २ प्र. ) "तानि वा एतानि चत्वार्य म्भांसि देवाः, मनुष्याः पितरोऽसुराः । तेषु सर्वेष्वम्भोनभ इवेति तैत्तरीय श्रुतेश्च ।" (तै. आ. २।३।८) तेषां चतुर्णां सयोनित्वात् तेषां चैषां गौर्योनिः । एषां चतुर्णा मुत्पत्त्यनन्तरम्" । ततो या योनि रुदशिष्यत सा गौ रभवत् । योनि वैनामेष" । इति मैत्रिश्रुतेः । तत्र पृथिव्या वा चन्द्राद्वा प्रतिफलिता गावो यावत्यो दिवमभिपद्य प्रवर्तमानाः सूर्यदिशि प्रत्यावर्तन्ते त देवाः । सूर्येतर दिक्षु तिरश्च्यः प्रत्यावर्तमानाः सोम संसृष्टाः सूर्यगावः पितरः । "सर्वासु दिक्षु पितरः,, (मैत्रि १।७।१६) इतिश्रुतेः । "तिर्यञ्चःपितरः" इति श्रुत्यन्तराच । सूर्यप्रतिदिगदृष्टाः पृथिव्याश्चन्द्रस्य वा

स्वीयागावोऽसुराः। अज्योतिष्ट्वादिमे कृष्णाः। त्रयोऽप्यमी निर्मनस्काः। यास्तु पशूनां प्राणिनां मनोयुक्ता गावस्ते मनुष्याः। चक्षुर्विभक्ति श्रुत्या ह्येतेनूच्यन्ते। तथा हि मैत्रि श्रुतिः "यद्दिवा पश्यामस्तद्देवानां चक्षुषा पश्यामः। असौ वा आदित्यो देवानां चक्षुः। यज्ज्योत्स्नायां पश्यामस्तत्पितॄणां चक्षुषा पश्यामः। चन्द्रमा वै पितॄणां चक्षुः। यत्तमिस्रायां पश्यामस्तन्मनुष्याणां चक्षुषा पश्यामः। एतावद्वाव नः स्वं चक्षुः यदग्नेरन्ते पश्यामस्तदसुराणां चक्षुषा पश्यामः। उच्च वा एष दीप्यते निचरिष्यति,,—इति। तथा चेह पृथिव्यां चन्द्रे वा यावन्तोऽग्निवाय्वादित्या अमृताः प्राणास्ते देवाः। सौम्या प्राणाः पितरः। भौतरसात्मका; मर्त्याः प्राणा असुराः। हिरण्मया दिवाः। राजताः पितरः आयसा असुराः। एत एव च त्रयः प्रज्ञा युक्ताः प्राणा मनुष्या इति सिद्धम्।

यद्यपीदं प्रजापत्य मिन्द्राग्निसोमैत्रिधातुपूर्वं व्याख्यातमिह त्वद्भिस्तच्चतुर्धा व्याख्यायते इत्यापातविरोधः प्रतिभाति तथा प्यपां विद्युत इव सोमेन सालोक्यात् सलोकेषु च सर्वेषु सर्वेषामन्यतमस्य वा ग्रहणे कामचाराददोषात्। अपि चैता आपो द्विविधाः अग्रिया परिणताश्च। ईश्वरविग्रहेऽभिजिद्ब्रह्मविग्रहे सूर्यविग्रहे पृथ्वीविग्रहेऽपि वा पूर्वं पूर्वं विग्रहावच्छेदिका अग्रियाः। ताभ्य एवोत्तरोत्तर विग्रहावच्छेदाय परिणम्यमानाः परिणता तत्राग्रिया एवैता उत्तरोत्तर दहर स्वरुपाधानायान्यथा प्रवर्तन्त इति ना पूर्वत्वे। परिणतानाम्। इन्द्राग्नि सोमास्तु परिणताभ्यः प्रजायन्ते इत्यपामत्राधिक्येऽपि प्रस्थानभेदाद-विरोधः। प्रतिविग्रहमद्भ्यः प्रजातानां देवानां त्रित्वेनैवावच्छेदम्येष्टत्वात्।

तत्रापि द्वौ विभागौ द्रष्टव्यौ। इन्द्रोऽन्यः। अग्नीषोमौ चान्यः। मनः प्राण वाङ्मय ब्रह्मात्मकत्वेऽपि वाचो यशस्त्वादयमिन्द्रो वागिति श्रूयते। स हि यज्ञाधिष्ठातृत्वाद् यज्ञफलभोक्तृत्वाच्चैको विभागः। अग्नीषोमौ तु यज्ञस्वरूपा रम्भकत्वादन्यो विभागः। तत्राग्नेस्त्रैविध्या दग्निवाय्वादित्य सोमैश्चतुष्टयात्मक मपीमं विभाग मिच्छन्ति। तथाहि—भगवान् याज्ञवल्क्यः प्राह (६।—) त्रयी विद्या ब्रह्म। सा प्रतिष्ठा। तस्यां प्रतिष्ठितो ब्रह्मप्रजापतिस्तप्यन्

वाचोलोकात् अपोऽसृजत। आभ्योऽद्भ्योऽधिप्रजायेयेति कामयमानः प्रजापतिरनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्। यावती सा विद्या तदेकमाण्ड मस्ताख्यं भर्गस्याख्यं वा समवर्तत। वर्तुलवृत्तरूपो गर्भकोश आण्डम् सामान्ता च सा पृथिवी। योऽपां गर्भ आसीत् सोऽग्निरभवत्। स यज्ञः प्रजापतिः। स यज्ञो वेदैस्तायते। एतावान् वै सर्वो यज्ञो यावानेष त्रयो वेदस्तस्यैतद्रूपं क्रियते। एष योनिराशयः एतस्मिन्नाशये त्रिधातु रिवैषा विद्या शेते। एतद्वै सहस्रं वाचः प्रजातं यदेष त्रयो वेदः ॥ (५।४।७)

सैषा त्रयी विद्या ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत मुखं ह्येतदग्नेर्यद् ब्रह्म। यदेतद् ब्रह्मकपाल मासीत् सैषा पृथिव्यभवत्। सोऽकामयत-आभ्योऽद्भयो ऽधीमां प्रजनयेयमिति तां संक्लिष्याप्सु प्राविध्यत्। तस्यापः पराङ् रसोऽत्यक्षरत् स कूर्म्मोऽभवत्। अथ यदूर्ध्वमुदौक्ष्यत तेनैता अद्भ्यो वक्ष्यमाणा नवसृष्ट्यो ऽभूवन् तत्र तावदियं पृथ्वी सर्वाप एवानुव्यैत्। तदिदमेकमेवरूपं समदृश्यत आप एव। तद्रूपः स श्रान्तस्तप्तः फेनमसृजत। फेनरूपः श्रान्तस्तप्तः क्रमेणामृदं शुष्का मूष सिकतं शर्करा मश्मान मयो हिरण्य मोषधि वनस्पत्यसृजत। तेनेमां पृथ्वीं प्राच्छादयत। यथा त्वगसृग्वसास्थिमज्जादयो लोमानि च शरीरधातवः शरीरमग्निं प्रच्छादयन्ति। तथैते अपूफेनोषसिकता शर्करा श्मायोहिरण्यानि ओषधि वनस्पत्यादीनि पशुरूपाणि च पृथ्वी धातवः पार्थिवमग्निं प्रच्छादयन्ति। ता एता नव सृष्ट्यश्चीयमाना श्चित्याग्निरूपम्। सा पृथ्वी नाम। अथ योऽस्यां पृथिव्या मग्निः स चिते निधेयः। स पृथ्वी लोकपालः। तदेतदमृतं मर्त्यञ्चे-त्युभय मिन्द्रेण नद्धं समिद्धं विद्यात्। यस्तु तदुपरिष्टात् संनिविष्टः कूर्म्मः सोऽमृते साहस्रे मर्त्यो रसः पश्यकाकार परिच्छिन्नसंनिवेशतया कश्यपो नाम। स च दधि घृत मधुमयोऽन्यत्रव्याख्यातः। तत्र दृष्टेत्र पृथिव्या रूपं विद्यात्। तदित्थमिदं प्रथमाण्डं व्याख्यातम् ॥ १ ॥

ततः सोऽग्निना पृथिवीं मिथुनं संभूय द्वितीयमाण्डं पोपाख्यं महस्याख्यं वा समवर्तयत्। तदन्तरिक्षम्। यो गर्भोऽन्तरासीत् स वायुः। अथ वायुना

सोऽन्तरिक्षं मिथुनं संभूय तृतीयमान्दं यशस्याख्यं समवर्तयत्। सा द्यौः यो गर्भः स आदित्यः। अथादित्येन स दिवं मिथुनं संभूय चतुर्थमान्दं रेतस्याख्यं समवर्तयत्। ता दिशः। तत्रेदं रेतश्चन्द्रमा असृज्यत। त एते चत्वारो लोका अभवन्। त्रयोऽग्निलोकाः। दिगन्त्यः सोमलोकः। अथैषु लोकेषु स मनसा वाचं मिथुनं संभूय क्रमेण प्रजा असृजत। वसून् रुद्रान्-आदित्यानग्निलोकेषु। विश्वान् देवांस्तु दिक्षूपादधात्।

तदित्थ मयमाप्यः सौम्यो दिश्यो वैश्वदेव्यो वा चतुर्थो विभागो भगवता याज्ञवल्क्येन ( श. ६।१।२ ) वेद चातुर्विध्यानुरोधात् स्थूलमानादेकधैव समस्याख्यात. तदनुरोधेनैव च कौषीतकादयः प्राहुः "चतुष्टये वा इदं सर्वम्" ( २।१।७ ) इति ॥ वस्तुतस्तु पूर्वेभ्यस्त्रिभ्योऽनन्तरमिह द्वौ विभागौ द्रष्टव्यौ। ब्राह्मणस्पत्यो बार्हस्पत्यो वा दिश्यो वैश्वदेव्य एकः। तच्चतुर्थं रेतस्यमान्दम। मनसा वाचं मिथुनं संभूय तु तत्र सोऽङ्गिरसोऽजनयत्। त इष्टाप्स्वभवन। अथ वैद्युत आप्यो वैश्वदेव्यो द्वितीयः। तदुत्तमं पञ्चमान्दम्। मनसा वाचं मिथुनं संभूय तु तत्र भृगूनजनयत। त इह दिक्ष्वभवन्। यथा चाग्नि वय्वादित्याना मान्दत्रयधिष्ठातृणामग्नित्वं तथैतयोर्ब्रह्मणस्पति विद्युतोश्चतुर्थ पञ्चमान्दाधिष्ठात्रोः सोमत्वम्।

परे त्वनयोरग्नित्व मभिप्रेत्यै तदान्द्योर्द्विदैवत्य मिच्छन्ति। "ब्रह्म वै बृहस्पतिः क्षत्रं सोमः। एतौ ह वा अस्य सर्वस्य 'प्रसवस्येशाते यदिदं किञ्च। (१० अ०)।" इत्यैतरेयश्रुतौ बृहस्पतिसोमयोर्भेदेन व्यपदेशात्। "आपो वै भृग्वङ्गिरसामायतनं चन्द्रमादेवता वैद्युतश्चेति" (पू० २।२४)। "चन्द्रमा वैद्युतश्च भृग्वङ्गिरसामिति च" ( पू० ५।१५ )। गोपथश्रुतौ विद्युत्सोमयोर्भेदेन व्यपदेशात्। उभयधर्मानुयायित्वादग्निविशेषत्वं सोमविशेषत्वं च बृहस्पतिविद्युतोर्द्रष्टव्यमित्यपरे।

परे त्वाहुः तयोर्भिन्नत्वादेव तत्तदुपलक्षित लोकस्य भिन्नत्वमित्यान्द द्वैविध्य मुपपद्यते। अपां दिशां चोभयत्रा विशेषेण सत्वात्तूभयोरैक्यं पश्यन्ति। अत एव च लोकवेदयोश्चतुष्ट्वं श्रूयते। तद्यथा कौषीतकि श्रुतौ–

"अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः,, ( १८।२ ) इति यथा चाथर्वणश्रुतौ–
"चत्वारो वा इमे लोकाः पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौ रापः । ( २।१६ ) इति ॥
चत्वारो वा इमे वेदाः-ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेद इति ॥ चत्वारो वा इमे देवाः अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमाः ( २।१६ ) इति ॥ "यद्यप्यपां विकारत्वाच्चत्वारोऽपि लोका आप एव सन्ति तथापि त्रिष्वाद्येषु विकाराधिक्यात् यथा वैरूप्य भूयस्त्वं न तथा चतुर्थ इत्यतो दिशा मप्त्वेनैव व्यवहारः ।

सोऽयमप्सु प्रत्यन्तत्व निबन्धनो दिक् छन्दः । तेन पञ्चलोकाभ्युपगमपक्षे आपो दिशश्च भिद्यन्ते । पञ्चमस्य दिक्त्वेऽपि चतुर्थस्य दिक्त्वाभावात् । चतुर्लोकाभ्युपगमपक्षे त्वापो दिशश्चैकोऽर्थः । अत एवाथर्व संहितायां चतुर्थस्योनचत्वारिंश सूक्ते "पृथिव्यामग्नये अन्तरिक्षे वायवे दिव्यादित्याय दिक्षु चन्द्राय समनमत्,, ( ४।३६।१।८ ) इति पृथिव्यादिलोक प्रसङ्गे चन्द्रसन्बन्धेनाप्स्विति वक्तव्ये दिक्ष्विति श्रूयते ।

अथयच्चतुर्थे सौम्यान्दे वैश्वदेव्यं वाजिश्रुतौ श्रूयते । तदपीह द्विविधं विद्यात् । अग्निर्यम आदित्य इत्येतेऽङ्गिरसः । एषां त्रयाणां संहतानां यदेकं रूपं तदाङ्गिरसं वैश्वदेव्यम । सोमो वायुराप इति भृगवः । तेषां यदेकं रूपं तद् भार्गवं वैश्वदेव्यम् । "एते वै सर्वे देवाः यद्विश्वे देवाः,, । ( ४।१४ ) इति कौषीतकिश्रुतिरापेक्षिकानेकदैवत्यमभिप्रैति न त्वेकहेलया सर्वेषां देवानां समुच्चये तत्तात्पर्य्यं नेयम् । तथा सति दिव्यन्यस्यान्तरिक्षेऽन्यस्य वैश्वदेवस्य संभवापत्तेः । विभिन्ना नेक देवतान्वयभेदात्तु वैश्वदेव्यानि भिद्यन्ते । तत्रैतयोश्चतुर्थ पञ्चमान्दयोः सौम्यं वैश्वदेव्यद्वयं विद्यात् ।

इत्थं चाग्निना वसुभिर्वायुना रुद्रै रादित्येनादित्यै र्बृहस्पतिनाऽङ्गिरोभिर्विद्युता भृगुभिश्च कृतान्येतानि पञ्चान्दानि प्रत्यर्थमुपपद्यन्ते । त इमे पञ्च लोकाः । तेषा मुत्तरोत्तर परिवृद्धे मानायतनत्वं श्रूयते मैत्रायणीये । "उत्तर उत्तरो हि लोको ज्यायान्,, इति ॥

तेष्वेतेषु पञ्चस्वान्देषु लोकेषु याःप्रजातास्ता देवा उच्यन्ते देवता द्वेधा विभज्यन्ते । देवाश्च पितरश्चेति । अग्नियशस्विनः प्राणा देवाः । सोम-

यशस्विनः प्राणाः पितरः। अग्नि मनु सर्वे देवा ऋच्छन्ति सोममनुसर्वपितरः तत्र अष्टौ वसवः प्रथमान्दे एकादश रुद्राद्वितीयान्दे, द्वादशादित्यास्तृतीयान्दे इन्द्रवषट्कारौ वा प्रजापतिवषट्कारौ वा इन्द्रप्रजापतीवैत्येते त्रयस्त्रिंशदग्नि मनूचीना देवाः। त्रयोऽङ्गिरसश्चतुर्थान्दे त्रयो भृगवः पञ्चमान्दे अग्निसोमौ त्सकेद्वे ऋतुत्रिके चेत्यष्टौ पितरः सोममनूचीनाः॥ तत्र—

सर्वमापोमयं भूतं सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः। इति गोपथ श्रुतेः।

प्रति प्रजापत्यमापः प्रथमआत्मा। इतरान् प्रत्यमूपामुकृथत्वात प्रतिष्ठात्वात् सामत्वाच्च। भृगवो द्वितीयमात्मा। अङ्गिरसस्तृतीय आत्मा तत्र द्यावा पृथीव्यौ तदन्तरिक्षं चोपपद्यन्ते। तस्मात् सर्वतः पूर्व मिहाप्सु भृग्वङ्गिरसो रुत्पत्ति माख्यास्यामः।

गोपथश्रुतौ श्रूयते (पू. १।३) "तास्वप्सु स्वां छाया मपश्यत् प्रजापतिः। इह तावदपां सृष्ट्या ब्रह्मणस्त्रैविध्यं समपद्यत। सृष्टे प्रविष्टे निर्विकृतंच। स्विन्नं यावदापोरूपं तत् सृष्टम्। तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशदित्यप्सु प्रविष्टो ऽपामभिमानी तासामात्मा प्रविष्टं ब्रह्म। स सत्यं नामाग्निः। अथाभ्यामतिरिक्तं विशुद्धं स्वष्टरूपं निर्विकृतम्। त्रिष्वेतेषु यदप्सु प्रविष्टं सा निर्विकृतस्य ब्रह्मणश्छाया। त्रयी मेव तां विद्या मथर्वोत्तरां विद्यात्।। मनः प्राणमयी-हीयमन्या वाक् पूर्व विग्रहेऽपां मण्डलस्य भिन्नत्वात्तदवच्छिन्नं ब्रह्म बृहत्सा-मत्वाद्भिद्यते। तत्सृष्टस्य तु दहरस्यापां मण्डलस्यात्यल्प सामतया भिन्नत्वेऽपि सर्वाभिक्रमे पूर्वविग्रह साम्यं भवतीत्यस्तत्र च्छायाशब्दः॥

अन्तर्मण्डलं चन्द्रमण्डलरूपां स्वां छायामीक्षमाणस्य ब्रह्मणो रेतः स्वय-मस्कन्दत्। तदप्सु प्रत्यतिष्ठत्। रेतसा सहैताआपः प्राच्यो दक्षिणाच्यः प्रतीच्यः, उदीच्यः समवाद्रवन्तेति समुद्रोऽभवत्। यावत् सहस्र तावानयं समुद्रः ता रेतः समुद्रं वृत्वा ऽतिष्ठन् उद्ध्रवणाद् भीतास्ता रेत एवैतच्छरणम वृणतेति स वरुणोऽभवत्। यदीदं ब्रह्मरेतः संवरणं ना करिष्यत् तर्हीय मैन्द्री वान् विभवनस्वाभाव्याद् उद्द्रुता पवमानाऽभविष्यत्। अपांय जुर्नाम ब्रह्म-रेतसा तेनाऽविनाभावोपपादकएकीभावो वरणम। वरेण्यं सन्तं वरुण इत्याचक्षते।

यावत्य आपस्तावानयं वरुणः। असुरो यं वरुणः प्राणप्रदो वायुः। स द्वेधाऽभवत्। अप्सु लीनोऽद्भयो मुक्तश्च। तत्राभ्यो मुक्तादङ्गिरसः सृष्टिं वक्ष्यामः। अप्सु लीनात्तु वरुणाद् भृगुरयं सृज्यते। वरुणेन ब्रह्मरेतसा सहैता आपो द्वैधमभवन्। अतिऽलवणा अपेया अस्वाद्यस्ता अशान्ता अन्याः। पेयाः स्वाद्याः शान्तास्त्वन्याः। तत्रैव रेतसि ता आपोऽभ्यश्राम्यदभ्यतपत् प्रजापतिः। श्रान्ताभ्यस्तप्ताभ्यस्ताभ्यो यद्रेत आसीत् तदभृज्यत। तस्मात् भृगुर्वारुणिः समभवत्। स भृगुं सृष्ट्वाऽन्तरधीयत। भृगुस्त्वेष सृष्टः पञ्चधा रूपोऽसृज्यत। वायुः[1], मातरिश्वा, पवमानः, वातः, अथर्वेति।

सर्व एवैतेऽनायतना वहन्तोऽन्तरिक्षचरा भावाः। तत्रायं सविता वायुः पर्जन्यादिविधः सूर्योपनत कतिपय जातीय प्राणसंग्रहः। मातरिश्वा तु पृथ्वीं परितो वेष्टयमानस्तां स्तम्भमानो भूपृष्ठादूर्ध्वं द्वादशयोजनावकाशपरिव्याप्तः स्थिर प्रायो वायुविशेषो यमेमूष इति वैदिकाः प्राहुः। पवमानः सोममयो यो दह्यमानोऽग्नित्व मापद्यते। वातस्त्वनियतदिग्वाही कदाचित्सचारी ताराग्रह रसानामुपसंग्रहः। अथावागप्सु निविष्टोऽतिसूक्ष्मः कश्चन वायुरथर्वा। यत् किञ्चिदात्मनो यज्ञे विश्लिष्टं विरिष्टं वा तदनेनाथर्वणा भिषज्यमानं संधीयते। तथा च श्रूयते। "एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद्भृग्वङ्गिरसः। येऽङ्गिरसः स रसः। येऽथर्वाणस्तद् भेषजम्। यद् भेषजं तदमृतं। यदमृतं तद्ब्रह्मेति" (गो.पू.३।४) मन्त्रशास्त्रीयास्तान्त्रिक प्रयोगाः सर्व एवं तस्मिन्नाथर्वणे प्राणे सम्पाद्यन्ते। उक्तं च गोपथ-श्रुतौ "ब्रह्म वेदस्याथर्वणं शुक्रं, अत एव मंत्राः प्रादुर्बभूवुः। स तु खलु मन्त्राणामतपसाऽशुश्रूषानध्यायाध्ययनेन यदूनं च विरिष्टं च यातयामं च करोति तदथर्वणां तेजसा प्रत्याप्याययेत् मन्त्राश्च मामभिमुखी भवेयुर्गर्भा इव मातरम्,, इति॥ एषोऽथर्वा भृगु प्राणान्नातिरिच्यते। सर्वेष्वेवाथर्वसु भृगुत्वस्याभिव्याप्तत्वात्। भृगुस्त्वथर्वणोऽरितिरिच्यते। सर्वेषु भृगुष्वथर्वत्वस्यानभिव्याप्तेः। अतो भृगुविशेषत्वादयमथर्वा प्राणो भृगुप्राणाद् भिन्नश्चाभिन्नश्च व्यपदिश्यते। भेदन यथा। "अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वाऽथर्वाणो

---

[1]—श्रुत्यन्तरे वायुस्थाने सविता पठ्यते। सवितेव स वायु स्त्रे ष्यते।

भृगव: सोम्यास:"। (     ) इति भृगूनथर्वणश्च पृथक् पठति।
अभेदेन यथा—

"ऋग्वेदस्य पृथ्वीस्थानमन्तरिक्षस्थानो अध्वर:।
द्यौ: स्थानं सामवेदस्य आपो भृग्वङ्गिरसां स्मृतम् ॥ १ ॥

अग्निर्दैवतं ऋग्वेदस्य यजुर्वेदो वायुदैवत:।
आदित्य: सामवेदस्य चन्द्रमा वैद्युतश्च भृग्वङ्गिरसाम् ॥ २ ॥

ऋचो विद्वान् पृथ्वीं वेद सम्प्रति, यजूंषि विद्वान् बृहदन्तरिक्षम्।
दिवं वेद सामगो यो विपश्चित् सर्वान् लोकान् यद् भृग्वङ्गिरो वित्
॥ ३ ॥ (गो.पू. ५।१३।१६)

इत्येवमादिषु त्रय्या विद्याया उपरिष्टात् भृगूनङ्गिरसश्चाख्याय वचनान्तरे त्रय्या विद्याया ऊर्ध्वमथर्वणोऽङ्गिरश्चाचष्टे।

"त्रिविष्टपं त्रिदिवं नाकमुत्तमं तमेतया त्रय्या विद्ययेति।
अत उत्तरे ब्रह्मलोका महान्तोऽथर्वणामङ्गिरसां च सा गति: ॥"
(गो० पू० ५।१०)

प्रायश्चित्तैर्भेषजै: संस्तवन्तोऽथर्वाणोऽङ्गिरसश्च शान्ता:।
अथर्वभिरङ्गिरोभिश्च गुप्तोऽप्सु चन्द्रं पादं ब्रह्मणा धारयन्ति(५।२४)

ऋग्वेदमेव होतारं वृणीष्व। यजुर्विदमध्वर्युम्। सामविदमुद्गातारम्। अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम्। ( २।४ ) इति।

अत्र भृगुस्थानेऽथर्वाणमाचक्षाणस्तयोरभेदमभिप्रैति। स्मृतिरपि तयोरभेदमाह—यथोक्तं वायुपुराणे पूर्वभागे ऊनत्रिंशाध्याये नवमश्लोके—" अथर्वा तु भृगुर्ज्ञेयोऽप्यङ्गिराथर्वण: सुत:। तस्मात् सलौकिकाग्निस्तु दध्यङ्चाथ-

र्वणः सुतः ॥" इति ॥ तदित्थं पञ्चविधो वायुर्व्याख्यातः । यदप्सु ब्रह्मणो रेत आसीत् तदयमद्भिः सम्पन्नः पञ्चविधो वायुरभवत् । आसां वायुविधानां लोक इमा आपः । आपस्ततोऽतिरिच्यन्ते । अपश्चतुर्थं लोकं मन्यन्ते "अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः । (१८।२)" इति कौषीतकि श्रुतेः । चन्द्रमसं च तल्लोकपालम् । "चन्द्रमाह्यप्सु चरति" (गो० पू० २।६) इति श्रुतेः । 'तस्याग्निर्होताऽऽसीत् । वायुरध्वर्युः । सूर्यः उद्गाता । चन्द्रमा ब्रह्मा ।' (गो० १।१३) इति चन्द्रमसो ब्रह्मत्वश्रवणाच्च । ऋचामग्निर्दैवतं पृथ्वीस्थानम् । यजुषां वायुर्दैवतमन्तरिक्षस्थानम् । साम्नामादित्यो दैवतं द्यौः स्थानम् । अथर्वणां चन्द्रमा दैवत मापः स्थानम् । (गो. १।२६) इति ॥ पृथ्वी वा ऋचा मायतन मग्निर्देवता । अन्तरिक्षं वै यजुषामायतनं वायुर्देवता । द्यौर्वै साम्ना मायतन मादित्यो देवता । आपो वै भृग्वङ्गिर सामायतनं चन्द्रमा देवता वैद्युतश्च । (गो. २।२४) इत्यादिषुच श्रुतिषु भृग्वङ्गिरसां वेदानामापो लोकश्चन्द्रमा लोकपतिरिति श्रूयते । तथा च वायु रापश्चन्द्रमा इत्येते त्रयोऽप्यन्योन्या व्यभिचारेण सहचारिणः संभवन्ति । अत एवैषां त्रयाणां योगादेकं वैश्वदेव्यं संपद्यते तत्राप्येष भृगुशब्दः प्रवर्तते । वायु रापश्चन्द्रमा इत्येते भृगवः । एत इदं सर्वं समाप्याययन्ति । एक मेव संस्थं भवति (गो. २।८) इति श्रुतेः । चन्द्रमा द्विविधः । भास्वर चन्द्रो दिक् चन्द्रश्चेति । पृथ्वीं परिक्रममाणो द्विपक्षः पिण्ड आद्यः तदारम्भणोऽनायतनः सर्वजगद्व्यापी सोमो द्वितीयः । तत्रेह प्रकरणे चन्द्रमप्शब्देन सर्वदिग्व्यापी सोमो नेयो न भास्वरः पिण्डः । "वृषा सोमो योषा आपो हविर्धानेऽध्येति । तस्मान्मिथुनाच्चन्द्रमाजातः,, । (४।४प्र. । ६ ब्रा. १२ क) इति श्रुत्या तस्यादभियुक्तात्सोमा दुत्पन्नत्वेनोत्तर कालिकत्वात् । अत्र हविर्धाने सूर्य पृथिव्यौ भ्रमः । "द्यावा पृथिवी वै देवानां हविर्धाने आस्ताम् । ते उ एवाद्यापि हविर्धाने । ते हीदमन्तरेण सर्वं हविर्यदिदं किञ्च" । इत्यैतरेय श्रुतेः (५ । अ.) अत एवैतल्लोकतृतीयलोकयोर्मध्येऽयं चन्द्रमा जन्म धत्ते । "द्यावा पृथिव्यो वा एष गर्भो यत्सोमो राजा" (-४।४-)

इत्यैतरेय श्रुतेः । अपिवा हविर्धानमिति वाङ्मनसयोः संहतयोः संज्ञा। "वाक् च वै मनश्च हविर्धाने । वाचि च वै मनसि चेदं सर्वं हितम्" । (६।३) इति कौषीतकि श्रुतेः ॥

प्राणस्यापीद मुपलक्षणम् । तदव्यतिरेकेण सृष्टे रसंभवात् । तेन अग्नी व सोमेनापोमिथुनं संभूय चन्द्रमसमुदपादयत् । अत्रिश्च तत्रायं प्राणश्चन्द्रजनकः । तथाच-तस्यात्रेयत्वेन भृगुत्वाभावाच्च नेह ग्रहणं युक्तम् ॥ यस्तु दिक्सोमः स भृगुविशेषो द्रष्टव्य; । सोऽयमित्थं त्रिश्चरूपो भृगुर्व्याख्यातः ।

अथ यत् ता आपो ब्रह्मणो रेतः स्वं राजानमवृणत । सोऽद्भिर्वरणाद् वरुणोऽभवत् । स समुद्रादमुच्यत । तदनवच्छेदात् स्वातन्त्र्यापत्तिमुक्तिः । तेनैष मृत्युरेव सन् पारीत्यात् मृत्युरुच्यते । तं वरुणं मृत्युमभ्यश्राम्यदभ्यतपत् । तस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत् । सोऽङ्गरसोऽभवत् । अङ्गरसं सन्तमङ्गिरा इत्याचक्षते । ( गो० १।७ ) स ऊर्ध्वो अतिष्ठत् स इमान् लोकान् व्यष्टभ्नात् । "अङ्गानां ह्येष रसः" इति श्रुत्यन्तराच्चायमङ्गिराः । सर्वेषा मेव घनपिण्डानां प्रत्यङ्गादुत्थायोर्ध्वां दिवमनुसंचरन् रसः प्रतीयते । अत एवै तस्या पृथिव्या अपि नाभेरुत्थाय समन्ताद् बहिर्भवन्नादित्येन संपृक्तोऽनुक्षणं दिवमनु सर्पतीति श्रूयते ।

"इत एत उदारुहन् दिवः पृष्ठान्यारुहन् ।
प्रभूर्जयो यथा पथो द्या मङ्गिरसो ययुः ॥" इति ॥

भुवो दिव मभ्युत्क्रममाणानामङ्गिरसामादित्यैरूर्ध्वाद्भुवमागत्य पुनः प्रत्या वर्तमानैः सहाकाशे संघर्षो भवतीति बहुधा श्रूयते यथा कौषीतकीये । "आदित्याश्च ह वा अङ्गिरसश्चास्पर्द्धन्त । वयं पूर्वे स्वर्गंलोकंस्वर्गं-लोकमेष्याम इत्यादित्याः । वयमित्यङ्गिरसः । तेऽङ्गिरसः आदित्येभ्यः प्रजिघ्युः (३०।६) ॥ इत्यादि ऐतरेयकेऽपि—आदित्याश्च ह वा अङ्गिरसश्च स्वर्गे लोकेऽस्पर्धन्त । वयं पूर्व एष्यामो वयमिति । ते ह्यादित्याः पूर्वे स्वर्गं लोकं जग्मुः । पश्चेवाङ्गिरसः ( १८। अ. ) इति ।

गोपथेऽपि—आदित्याश्च ह वा अङ्गिरसश्च स्वर्गेलोकेऽस्पर्द्धन्त । वयं पूर्वे स्वरे ष्यामो वयं पूर्वे इति । त आदित्या लघुभिः सामभिः श्चतुर्भिः स्तोमैर्द्वाभ्यां पृष्ठ्याभ्यां स्वर्गं लोकमभ्यप्लवन्त । अन्वञ्च एवाङ्गिरसो गुरुभिः सामभिः सर्वैः स्तोमैः सर्वैः पृष्ठ्यैः स्वर्गं लोकमभ्यस्पृशन्त (पू. ४।२३) इति । इत स्तृतीयान्र्दे एकविंशस्तोमोऽयमादित्य इति तस्याङ्गिरो पेक्षया गन्तव्यमार्गः स्वल्पः । अङ्गिरसस्त्वितश्चतुर्थ पञ्चमान्दयोस्त्रिणव त्रयस्त्रिशौ स्तोमौ कृप्ता वित्यादित्या पेक्षया विप्रकृष्टो गन्तव्यमार्ग इत्यभिप्रायः ।

सर्वे जपयज्ञास्तमेतमङ्गिरसमेवापियन्ति तथा च श्रूयते—

याश्च ग्रामे यांश्चारण्ये जपन्ति मन्त्रान् नानार्थान् बहुधा जनासः ।
सर्वे ते यज्ञा अङ्गिरसोऽपि यन्ति नूतना सा हि गतिर्ब्रह्मणो याध्वराध्यां ॥
(गो. पू. ५।२४) इति । कठिन धातुरूपोऽयमङ्गिरा लोकत्रय रस योगाद् त्रेधा दृश्यते लोके आग्नेयो याम्य आदित्यश्चेति । कृष्णाकृति राग्नेयः । सीसाकृतिर्याम्यः शुक्लाकृतिरादित्य इति ।

तथा च श्रूयते "अग्निरादित्यायमः "इत्येतेऽङ्गिरसः एते इदं सर्वं समाप्नुवन्ति" (गो. पू. १।८) इति ॥

तत्र भौमस्तावदङ्गिरा एवाय प्रज्वलतोऽग्नेः स्वरूप निर्वाहयति ।"त्वमग्ने अङ्गिराः प्रथमो ऋषिः ( ) इति श्रुतेः। अग्ने स्त्रिवृत्त्वं श्रूयते कौपीतकीये । "त्रिवृद्वा अग्निः—अङ्गारा अर्चिर्धूम (इति कौपीतकि (२८।५) तत्र "अङ्गारेष्वङ्गिराः संबभूव अर्चिषि भृगुः संबभूव । ( ) इति श्रुतिरङ्गिरसोऽङ्गारस्वरूपा रम्भकत्वमाचष्टे । कृष्ण-वर्णोऽयमङ्गिरा दह्यमानः शुक्ले तेजसि रोहितो भवतीति रोहितवर्णो दृश्यते । सोऽयमित्थं त्रिस्वरूपोऽङ्गिरा व्याख्यातः ।

"भृगूणा मङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्" इति मंत्र व्याख्ययां । एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यद् भृग्वङ्गिरसाम् (२।१।५।१३)इति ब्राह्मण श्रुति दाहप्रवर्तक-

ञ्च माचष्टे । तच्च दाहकत्वं योगविशेषादुपपद्यते । योगविशेषात्तेषामुभयेषां तरलत्वं चोपपद्यते ।

आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् ( १।३९ ) इति गोपथ श्रुतेः ॥ स्वरूपेण त्वान्तरीक्ष्या अनायतना एते सर्वत्र व्याप्ता पवन्ते इति बोध्यम् ।

नक्षत्रविद्यायां रोहिणी लुब्धकाख्यानात् दिव्यप्ययनयो भृग्वङ्गिरसो रारम्भणं श्रूयते । "प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत् । दिवमित्यन्ये आहुरुषसमित्यन्ये । तामृष्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत् । तं देवा अपश्यन्-अकृतं वै प्रजापतिः करोतीति । ते तमैच्छन् । य एन-मारिष्यति । एतमन्योन्यस्मिन्नाविन्दन् । तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसन् ता एकधा समभरत् । ताः संभृता एष देवोऽभवत् । तदस्यैतद् भूतवन्नाम । तं देवा अब्रुवन् इमं विध्येति । स एतमेव वरमवृणीत-पशूना माधिपत्यम् । तदस्यैतद् पशुमन्नाम । स तमायत्या विध्यत् । स विद्ध ऊर्ध्व उदपतत् । तमेतं मृग इत्याचक्षते । य उ एव मृगव्याधः स उ एव सः । या रोहित् सा रोहिणी । यो एवेषु स्त्रिकाण्डा सो एवेषु-स्त्रिकाण्डा । तद्वा इदं प्रजापतेः रेतः सिक्तमधावत् । तत्सरोऽभवत् । ते देवा अब्रुवन्मेदं प्रजापतेरेतो दुषदिति । तन्मादुषमभवत् । तन्मादुषं सन्मानुषमित्याचक्षते । तदग्निना पर्यादधुः । तन्मरुतोऽधुन्वन् । तदग्निर्न प्राच्यावयवत् । तदग्निना वैश्वानरेण पर्यादधुः । तन्मरुतो धुन्वन् । तदग्निर्वैश्वानरः प्राच्यावयत् । तस्य यद् रेतसः प्रथम मुददीप्यत । तदसावादित्योऽभवत् । यद् द्वितीयमासीत् तद् भृगुरभवत् । तं वरुणो न्यगृह्णीत । तस्मात् स भृगुर्वारुणिः । अथ यत् तृतीय मदीदेदिवत् त आदित्या अभवत् । येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसो ऽभवन् । यदङ्गारा पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद् बृहस्पति रभवत्

यानि परिक्षाणान्यासन् ते कृष्णाः पशवोऽभवन् या लोहिनी मृत्तिका तेरोहिताः अथ यद्भस्मासीत् तत्परुष्यं व्यसर्पत् गौरो गवय ऋष्य उष्ट्रो गर्दभ इति । ये चैतेऽरुणाः पशवस्ते च तान् वा एष देवोऽभ्यवदत् मम वा इदं सर्वम् । मम वै वास्तुहम्" इति । एतच्चाख्यानमाकाशे कृत्तिकाताराऽनुप्राचीं, लुब्धका दनु प्रतीचीं, शश लक्ष्मणः, स्थिरचन्द्राच्छृवभ्यां चानूदीचीं, प्रजापति ताराया: पुनर्वसुभ्यां चान्ववाचीं यावान् यः प्रदेशस्तत्रत्याभी रोचनाभिः क्लृप्तानां देवसत्वानां सम्बन्धेनाख्यायते । तद् यथा–अस्ति हि कृत्तिकातः प्राच्यां ज्योतिष्मती तारा लोहित वर्चस्त्वात् सा रोहिणीत्युच्यते । तस्याः समसंमुखे दक्षिणाकाशे षड्भान्तरे तादृशो मेत्रान्यां ज्योतिष्मतीं ज्येष्ठां नाम तारां पश्यामः । ज्येष्ठार्द्धाद् रोहिणी पर्यन्तं चन्द्रमा उदरोहति । पूर्वोक्त तारास्तु ज्येष्ठार्द्ध पर्यन्तं स दक्षिणस्यामवरोहति । आरोहणा वरोहणा सीमत्वाच्चैते उभे रोहिण्यौ श्रूयेते । तत्र ज्येष्ठां दरिद्रामाचक्षते धूमावतीं च कृत्तिकातः पूर्वां तु लक्ष्मीं भृगुजामाहुः । अपि चैतत्तारोपलक्षितायां दिवि रोहित मृगरूपं स्त्रीजातीयं कल्प्यते । ततोऽपीयं रोहिणी नाम । तत उदीच्यां ब्रह्महृदयाख्यतारो पलक्षित शरीरः प्रजापतिर्भासते । प्रजापतिरित्यजमेपादि पशुचारणवृत्तेः शूद्रजातेः संज्ञा लोके कृत्तिका हि तस्य शिरः । "प्रजापतेः र्वा एतच्छिरो यत् कृत्तिकाः । अग्निरास्यम् । सप्त कृत्तिकाः सप्त शीर्षन् प्राणाः" (१।६।६) इति मैत्रायण श्रुतेः । सोऽस्या रोहिण्याः पिता कल्प्यते रोहिणी मनुसर्पन्तं तं दृष्ट्वा रोचनाक्लृप्त मूर्द्धयः सर्वे देवसत्वानः क्रुधा भूत्वा सर्वतारातेजोमयमूर्तिमत्युग्रवीर्य महाघोरं रुद्रं समाराध्य तद्वाराऽस्य मृगरूपं न तस्य प्रजापतेः शिरश्छेदयामासुः । तदिदं मृगशिरो नक्षत्रं दक्षिणभागे बाण संलग्नं दृश्यते । प्रजापतिस्तु छिन्नशीर्षा तदुत्तरतः पतितो दृश्यते अथ रोहिणीं बाणं चान्तरा तस्य प्रजापतेः रेतोभर्त्रिच्युतं सरः समभवत् मानुषं नाम । तस्माद्ध त्रिपुवतो दक्षिणतोऽर्द्ध तूत्तरतः संस्रवति । तस्योत्तर संलग्ना तारास्त्यग्निर्नाम । पुनर्वसू द्वे तारे । तत्रैका पश्चिमादित्यो नाम । पूर्वा तु भृगुर्नाम । असुरस्य रसेनोपपन्नत्वात् स वारुणिः ।

अथै तान्यासन्ने लुब्धकसन्नु यावद् वक्रदण्डवदाभासमानास्तिस्रः तारा आदित्याः । तदन्यास्त्विति सूक्ष्मा दृश्यादृश्यास्तत्र सर्वास्तारा अङ्गिरसः । ता

स्वयमेकः प्रदीप्तो लुब्धक बन्धुर्बृहस्पतिर्नाम । अथ मृगव्याधं रोहिणीं चान्तरेण प्रजापतिं चान्तरेणानेकजातीया अनेक वर्णाः पशवो दृश्यन्ते । तेषां पतिः पूर्वं प्रजापतिरासीत् । अकृतकरणादस्य प्रजापतेरपभ्रंपे भूतपति रयं मृगव्याधः पशुपति रभवत । तदित्थमेतेनाख्याने नाख्यान नायकानां मृषिदैवतपशूनां रूपैरत्रत्याः सर्वास्तारा नामतः स्वभावतश्च संगृहीता विज्ञायन्ते । तारासु बाला सुशिक्षिता भवन्ति ।

तारा विज्ञान विद्यायां मिथ्याप्रकल्पितै राख्यानैरर्थत्रयमुपपद्यते—पुराणाकाशस्य रोचनाना संनिवेशे प्ररोचनया शिक्षासौकर्य्यम्। शिक्षोपयोगिलोकचरिताना मुत्तरोत्तर युगपर्य्यन्तं यशःसंरक्षणम् । संदर्भपरिक्लृप्त्याऽनायासेन कतिपय वैज्ञानिकविषयाणामुद्घाटनं चेति । तथाच पुरा देवयुगे स्वर्गे कस्यचित् प्रजापतेरकृतं कुर्वतः प्रकुपितैः सर्वैर्देवै रनुमोदितेन केनापि रुद्रेण शिरश्छेदात्मकं दंडविधानं कृतमासीदित्ये तदर्थस्य सार्वकालिक सर्वलोकविख्याति सिद्धये व्योम्नि तारकाग्रन्थे सोऽर्थः समुल्लिखितो दृढमुद्रितोऽभूत् । अकृत कुर्वतां महतामप्येष दण्डो विधेय इति देवाज्ञारूपोपदेशश्चानेन सुप्रसिद्धः कृतोऽभूत् इति भाव्यम् ।

एवमेवैतस्मिन्नाख्याने द्विविधं विज्ञानं सुरक्षितं भवति । दिव्यमुपस्यञ्च । "दिव मित्यन्ये आहुरुपसमित्यन्ये" इत्युपक्रमोक्तेः । द्यौ रित्यपामुपलक्षणम् । "आप इमान् लोकानभिवहन्तीति" गोपथ श्रुतौ ( ३।१ ) अद्भि रेवोत्पत्तिश्रवणात्सर्वलोकानां तन्मयत्वात् कार्य्यशब्देन कारणस्य ग्रहीतुं शक्यत्वात् । ब्रह्म वै मनःप्राणवागात्मप्रजापतिः । वागवच्छेदेन च ब्रह्मणस्तावदापो जायन्ते । या हाइड्रोजनशब्देनाद्यतनैराख्यायन्ते । अप्सु ब्रह्मरेतः सिक्तमभूत् । ब्रह्मणो रस ऊर्ध्वमुदौहत् तदस्य शिरो नाम । रुद्रेण ब्रह्मशिरश्छिन्नं पृथगभवत् । सोऽङ्गिरा नामाभूत् ब्रह्मरेतो हि कठिनद्रव्यम् । सामान्येनाग्निना तदप्रच्युतावपि प्रबलेन वैश्वानराग्निनोत्तापे तत्प्रच्यवश्रवणात । प्रच्यवमानस्य तरलीकृतस्यै तस्य ब्रह्मरेतसस्त्रैविध्यमुपपद्यते । आदित्यो वरुणः प्रथमं रूपम् , भृगुर्द्वितीयम्, आदित्याः कतिपये तृतीयम । ब्रह्मरेतांस्येवैतानि त्रितयानि । तत्र वरुणेन ब्रह्मरेतसा सहैकीभूतानामपां द्वैधं भवति । —अतिलवणा अपेया अस्वाद्यास्ता अशान्ता रेतः समुद्रं वृत्वाऽतिष्ठन । रेतः समुद्रवरणाद् स वरुणो नामोच्यते ।

तंवरुण मिदानीं तनाः पाश्चात्यविद्वांसश्चतुर्धा रूपैरनुसंदधते—क्लोरीन, ब्रोमीन, आयोडीन्, फ्लूरीन्, इति अथेतरास्त्वापः पेयाः स्वाद्वः शान्ताः । तासु हि तद् रेतो ब्रह्मरेतोऽभृज्यत । भर्जनात स भृगुर्नाम । भृगुं सृष्ट्वा स वरुणोऽन्तरधीयते । तस्मात् ता आपः स्वाद्वाऽभवन्नलवणाः तस्य च भृगोर्वायुरापः सोम इतित्रैविध्यमाहुः । तत्र वायुः पञ्चविधः । वायुर्मातरिश्वा, पवमानो, वातोऽथर्वेति । आपस्त्वन्यद् भृगुरूपम् । तत्रेतद् भृगुजातीयानामपां यौगिकद्रव्यत्वात ब्रह्मस्वेद रूपाभ्यो मौलिक कुलाभ्यः प्रथमाभ्योऽद्भ्यः सांप्रतिक पाश्चात्यविद्वत्समये हाइड्रोजन इति प्रसिद्धाभ्योऽतिरेको द्रष्टव्यः । अथ यदप्सु ब्रह्मरेतः संस्तुतं भृगुर्भवति यं वरुणमाचक्षते तस्य समुद्रान्मुच्यमानस्य पृथग्भवतः उत्तापयोगान् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसः क्षरति सोऽङ्गिरानाम । तमयतनाश्चर्वाञ्चः कार्वन् इत्याचक्षते । विंशतिविधा हीमे ऽङ्गिरसः श्रूयन्ते । अङ्गिरसां विकारभूता उचथ्यबृहस्पति संवर्तगोतमायास्य भरद्वाजघोराथर्व कण्वप्रस्कण्वादयो बहुविधा अर्थाः श्रूयन्ते । असंज्ञान्तः संज्ञससंज्ञानां शरीरेभ्यः प्रत्यङ्गादुत्थायोत्थायानवरतभयमङ्गिरा ऊर्ध्वं दिवं गच्छन्नादित्येन सहसंसृज्यते । तत्र शरीरेभ्योऽङ्गिरसः प्रत्यङ्गाद्युच्छेदे रुद्रः प्रयोजकः । एष हि रुद्रो द्रावणो अग्नि विशिष्टो भूतपतित्वात् भौतिकेष्वर्थेषु प्रतिभूत मनुषज्जते । पशुपतित्वाच्च पशुष्वपि नित्यं संनिधत्ते । भूतेभ्य उत्पन्ना भूतविकारास्त्वसृग्ऽमांसमेदोऽस्थिमज्जादयो दूर्वाकाष्टपर्णादयश्चभिन्नभिन्नाग्निमुपधारयन्तः सर्वे पशवः उच्यन्ते । भूतेभ्यश्च पशुभ्यश्चै षोऽङ्गिरा प्रजापतिर्नित्य मुच्छिन्नोबहिर्भवतीत्याहुः ॥

उषसि चान्यद् विज्ञानं पश्यन्ति । ये यमोपसीसोषाः । सेयं प्रजापतेर्दुहिता । एष प्रजापतिर्द्वादशधा परिच्छिद्यते । अग्निरादित्यः सोमः पशवो वायुर्मृत्युः पृथ्वी द्यौरग्निरादित्यो मनः संवत्सर" इति । एता वाव द्वादश प्रजापतेस्तन्वः । एष कृत्स्नः प्रजापतिः" । इति श्रुतेः ।

[तत्र संवत्सरस्य प्रजापते रियमुषसा दुहिता भवति । स उषसि वैश्वानरं नामाग्निं] रेतोभूतमसिञ्चत् । स संवत्सरे कुमारोऽजायत । तस्यैता अष्टौ मूर्तयः । अग्निः आपः, ओषधयः, वायुः, विद्युत्, पर्जन्यः, चन्द्रमा, आदित्य इति । परे त्वोषध्या विद्युतः पर्जन्यस्य च स्थाने पृथ्वीमाकाशमात्मानं चाहुः । तान्येतान्यष्टौ

अग्निरुपाणि स चित्रो नामाग्निः। कुमारस्तेषां नवमः। न वाप्येते पशुषु प्रविष्टा उपलभ्यन्ते। पशवो ह्यग्निः। पृथ्वींपृष्ठे द्यावापृथिवी रसेभ्यः समुत्ना अचेतनो-द्भितसचेतनशरीरा धातूपधात्वोपधि वनस्पति कृमिकीटादयः पशवः। तेष्वयमग्निर्द्वेधा संनिविशते—मर्त्यरूपेणा मृतरुपेण च सोऽयमग्निचितियज्ञो-ऽध्वरयज्ञश्च। अन्नोर्क प्राणाना मन्योन्य परिग्रहस्य तेपु मर्त्यभागेऽमृतभागे चानुलक्षणमुपपन्नत्वात्। तस्य यज्ञस्य शिरोऽङ्गरसः प्रतिपद रुद्रच्छिन्नः पराग् भवति। यथा—सूर्यस्य यज्ञस्य शिरोऽयं धर्म्मप्रवर्ग्यश्छिद्यते हयग्रीवश्चोत्पद्यते एवं सर्वत्राप्ययमर्थः साधारणो ज्ञेय इति दिक्॥

इत्यमयं भृग्वङ्गिरोमयश्चतुर्थो वेदस्तावदाख्यातः,
तत्प्रसङ्गाद्वेदत्रयमप्यत उर्ध्वंवक्ष्यामः॥

## इतिमहर्षिकुल वैभवे भृग्वङ्गिरोमयी वाक् साहस्री॥

### सोऽयमैतिहासिको वैज्ञानिकश्च द्विविधो भृगुःअङ्गिराश्च व्याख्यातौ॥

॥ इति भृगुः-अङ्गिराः॥



## * अत्रिः

(१) आदिब्रह्मणो बहुषु पुत्रेषु तृतीयोऽत्रिर्ब्रह्मा चन्द्रवंशप्रवर्तको मूलपुरुष आसीत्।

(२) सोऽयमत्रिर्ब्राह्मस्य सप्तमे, पाद्मे सृष्टिद्वादशे, विष्णुचतुर्थांशस्य पष्ठे, भागवतस्य चतुर्थप्रथमे नवमचतुर्दशे च मार्कण्डेयस्य पोडशे अग्नेस्त्रयोदशे वाराहस्य पञ्चत्रिंशे, मात्स्यस्य त्रयोविंशे, ब्रह्माण्डोपोद्घातस्याष्टमे पञ्चपष्टे च हरिवंशप्रथमपर्वणः पञ्चविंशे, महाभारतस्य शान्तिमोक्षधर्मेऽष्टोत्तरद्विशततमे आनुशासनिकदानधर्मस्य षट्पञ्चाशशते च व्याख्यातः ॥

(३) तृतीय प्रजापतित्वादयमत्रिरत्रि शब्देनाख्यायते—इत्युक्तं ब्रह्माण्डे "अहं तृतीय इत्यर्थस्तस्मादत्रिः स कीर्त्यते" ॥ इति। (उ० ४।४५) द्विविधो ऽयमत्रिराख्यायते प्राणविधो नरविधश्च। तत्र भृग्वङ्गिरोऽत्रीणां प्राणविधानां क्रमिकोत्पत्या तृतीयत्वमत्रेः प्राणस्य बृहद्देवतादावुच्यते। एवं नरविधस्याप्यत्रे-स्तृतीयत्वं मानसेषु ब्रह्मपुत्रेषु तृतीयत्वादुपपद्यते। यथोक्तं भारतादिपर्वणः षट्षष्ठाध्याये—

"ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा, विदिताः परमहर्षयः।
मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः॥
अत्रेस्तु बहवः पुत्राः श्रूयन्ते मनुजाधिप।
सर्वे वेदविदः सिद्धाः शान्तात्मानो महर्षयः॥" इति॥

(४) स हि विपुलौजा अपि नितान्तशान्तप्रकृतिः शर्वलोकहितप्रवणश्चासीत्। तदुक्तं ब्रह्माण्डे—

"पिता सोमस्य वै विप्रा जज्ञेऽत्रिर्भगवानृषिः।

---

* पुरुषः नामान्तराणि—अत्रिः, भौमात्रिः, सांख्यात्रिः। पत्नी—अनुसूया।

तत्रात्रिः सर्वलोकानां तस्थौ स्वेनाजसाऽऽवृतः ।
कर्मणा मनसा वाचा शुभान्येव समाचरन् ॥" इति ॥

( ५ ) अस्यात्रेर्मूलनिवासस्थानं ब्रह्मपर्षदधिष्ठानं च विशिष्य न ज्ञायते । महाभारतभीष्मपर्वणि नवमाध्याये— "आत्रेयाः सभरद्वाजाः" । इति । मार्कण्डेये चतुःपञ्चाशत्तमाध्यायेऽपि—"आत्रेयाश्च भरद्वाजाः पुष्कलाश्च कशेरुकाः" । एते देशा ह्युदीच्यास्तु"–इत्येवं देशविशेषस्यात्रियत्वे नाख्यानात् पुरा युगेऽत्रिनिवासोपलक्षितप्रदेशस्य लोके सुप्रसिद्धत्वेऽपीदानीं कालदोषेण तदपह्नवाद प्रतिपत्तेः । श्वेतगिरिस्थो जनपदविशेषः पुरायुगे तदत्रिस्थानमासीदित्यस्ति बहूनां विश्वासः । यत्तु मात्स्ये पुरूरवसस्तपश्चर्याप्रसङ्गे—

"सगच्छन्नेव ददृशे हिमवन्तं महागिरिम् ।
खमुल्लिखद्भिर्बहुभिर्वृतं शृङ्गैस्तु पाण्डुरैः ॥ १ ॥
तस्यैव पर्वतेन्द्रस्य प्रदेशं सुमनोरमम् ।
अगम्यं मानुषैरन्यैर्दैवयोगादुपागतः ॥ २ ॥
नेघश्यामस्त्वसौ देशो द्रुमखण्डैरनेकशः ।
ऐरावती सरिच्छ्रेष्ठा यस्माद्देशाद्विनिर्गता ॥ ३ ॥
तत्राश्रमपदं पुण्यं बभूवात्रेः पुरा नृप ।
तत्प्रसादात् प्रभायुक्तं स्थावरैर्जङ्गमैस्तथा ॥ ४ ॥
हिमपातो न तत्रास्ति समन्तात् पञ्चयोजनम् ।
उपत्यका सुशैलस्य शिखरस्य न विद्यते ॥ ५ ॥
तत्रास्ति राजन् शिखरं पर्वतेन्द्रस्य पाण्डरम ।
हिमपातं घना यत्र कुर्वन्ति सहिताः सदा ॥ ६ ॥
तत्रास्ति चापरं शृङ्गं यत्र तोयघना घनाः ।
नित्यमेवाभिवर्षन्ति शिलाभिः शिखरं वरम् ॥ ७ ॥

तदाश्रमं मनोहारि यत्र कामधरा धरा ।
सुरमुख्योपयोगित्वाच्छाखिनां सफलाः फलाः ॥ ८ ॥

तदाश्रमं समन्ताच्च हिमसंरुद्धकन्दरैः ।
शैलवाटैः परिवृतमगम्यं मनुजैः सदा ॥ ९ ॥

तत्र यौ तौ महाशृङ्गौ महावर्णौ महाहिमौ ।
तृतीयं तु तयोर्मध्ये शृङ्गमत्यन्तमुच्छ्रितम् ॥ १० ॥

तस्याधस्ताद् वृक्षगणो दिशां भागे च पश्चिमे ।
जातीलतापरिक्षिप्तं विवरं चारुदर्शनम् ॥ ११ ॥

तमसा चातिनिविडं नल्वमात्रं सुसङ्कटम् ।
नल्वमात्रमतिक्रम्य स्वप्रभाभरणोज्ज्वलम् ॥ १२ ॥

न तत्र सूर्यस्तपति न विराजति चन्द्रमाः ।
तथापि दिवसाकारं प्रकाशं तदहर्निशम् ॥ १३ ॥

इत्येवं षोडशाधिकशततमादिभिः कतिपयाध्यायैः कश्चिदत्रेराश्रमो महता परिकरेण व्याख्यातः । सोऽप्यस्य तपश्चर्याप्रदेशोऽनुमीयते निर्जनारण्यप्रदेशत्वात् । वक्ष्यमाणेन तु परुष्णीकथानकेनाप्यस्य प्रदेशस्य सपरिवारात्रिनिवासस्थानत्वं चिरकालिकतपश्चरणार्थमेव स्थान्न त्वयं तस्य मुख्यो देशः । तस्य प्रदेशस्य मनुष्यलोकान्तरिक्षलोकयोः सीमारूपतया वायुपुराणादौ व्याख्यातत्वादन्तरिक्षलोकादप्युत्तरवर्तिदेवलोकनिवासिनस्तस्यात्रेर्मनुष्यलोकोपक्रमदेशनिवासित्वायोगात् ॥ यदपि च मेरुसंनिधाने देवनिकायगिरौ वा तदत्रितीर्थमुक्तं तदप्यस्य तपश्चर्य्यास्थानं नतु निवासस्थानम् । ब्राह्मे गौतमीमाहात्म्यस्य सप्ततितमाध्याये ( ७० ) यदा त्रेयतीर्थमुक्तं, चित्रकूटे दण्डकारण्ये प्रयागे वा यदात्रेयतीर्थमुच्यते तदत्रिवंशधराणामुत्तरेषां केषाञ्चिदत्रीणां स्थानं प्रतिपद्यते नत्वाद्यस्यात्रेः । उत्तरेषां त्वनेकस्थानानि स्मर्यन्ते । भारतशान्तिमोक्षधर्मे स्वस्तिकाध्याये प्राच्यां स्वस्त्यात्रेयस्य, पश्चिमायामत्रेःपुत्रस्य, उदीच्यामात्रेयस्य च निवासस्थानादिति दिक् ॥

(६) एष हि त्रीणि वर्षसहस्राणि शक्तिविशेषलाभार्थमृक्षपर्वतेऽनुत्तमन्तपस्तेपे—इत्याहुः। तत्र सहस्रशब्दः पूर्णार्थः। "सर्वं वै सहस्रम्" इति श्रुतेः। पूर्णत्वं च वर्षाणां मासवासरादिभिरन्यूनानतिरिक्तत्वम्. अनुत्तममिति मात्स्यादिपाठस्थानेऽनन्तरमिति पद्मादिपाठः। अन्तरमनवच्छिन्नम सुदुश्चरमिति च ब्रह्मांडादिषु पठ्यते। ऋक्षपर्वतोऽयं भारतवर्षे प्रसिद्धः।

तापी पयोष्णी निर्विन्ध्या कावेरी प्रमुखानदीः।
प्रवर्तयतियः सोऽयमृक्षो नाम कुलाचलः ॥ १ ॥

(ब्राह्मे १७)॥ इत्यभियुक्तोक्तेः। वस्तुतस्त्वत्रितपःस्थानमयमृक्षः स्वर्गभूमिस्थः कश्चिदन्योगिरिः तस्यान्नत्वयं भारतवर्षीयः। आद्यस्यात्रेः स्वर्गवासितया स्वर्गभूमिं परित्यज्य मनुष्यलोकेऽस्मिन भरतखण्डे तपश्चर्य्यार्थमनुधावनस्य विचारायोगत्वान।

(७) एष खल्वत्रिर्वसिष्ठादिवदस्य ब्रह्मणो मानसः पुत्रः आसीत् द्विविधं हि पुरा युगे ब्रह्मणः पुत्रमाचक्षतेस्म औरसंमानसञ्चेति। स्वधर्मपत्न्यां स्वरेतसोत्पादितः पुत्र औरसः। यस्त्वन्यौरसोऽपि ब्रह्मणा स्वपुत्रत्वेन भावितोऽभूत् स मनसा पुत्रत्वेन क्लृप्तत्वान्मानस इत्युच्यतेस्म।

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा वसिष्ठश्चेति सप्तते ॥

इत्येते सप्ताऽप्यन्यौरसा एव पुत्रत्वेन ब्रह्मणा परिगृहीतास्तत्तल्लोकमण्डले धर्मोपदेशार्थं धर्मे शाशनार्थं च ब्रम्हपरिषदधिष्ठानेऽधिष्ठातृतया प्रतिष्ठापिता अभवन्। वस्तुतस्तु प्रथमोऽयमत्रिरौरस एव ब्रम्हणः पुत्र आसीत। अत्रेर्मानसपुत्रत्वं तु सांख्यात्त्यपेक्षया द्रष्टव्यमित्याहुः।

(८) पौराणिका आहुः। अत्रिरयं ब्रम्हणा वेदप्रचारार्थं नियुक्त आसीत। तेन वैज्ञानिकयज्ञप्रचारकरणेन हेत्वन्तरेण वा परिक्रुद्धा असुरास्तमत्रिमृषिं सपुत्रकलत्रपरिवारगणमृबीसनाम्नि पीडायन्त्रगृहे प्रवेश्य तुषाग्निना अवाधिषत। ततस्तेनर्षिणा स्तुतावश्विनौ नासत्यदस्रौ देवौ तमग्निमुदकेनोपशमय्य तस्मात

पीडागृहाद् विकलेन्द्रियवर्गं सन्तं निरगमयताम् । असुरकृतपीडया कार्श्य प्राप्तायात्रये बलप्रदं क्षीरादिकमन्नञ्च पुष्ट्यर्थं प्रायच्छतमिति ऋक्संहितायां प्रथममण्डले षोडशशतसूक्ते महर्षिः कक्षीवानाह— ( १।११६ ) ॥

"हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्त ।
ऋबीसे अत्रिमश्विनाऽवनीतमुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति ॥ "(१।११६)
ऋषिं नरावंहसः पाञ्चजन्यमृबीसादत्रिं मुञ्चथो गणेन ।
मिनन्ता दस्योरशिवस्य माया अनुपूर्वं वृषणा चोदयन्ता ॥ (१।११७)
॥ इति ॥

हे अश्विनौ ! युवां हिमेन शीतोदकेनात्रिदाहार्थमसुरैः प्रक्षिप्तमतिप्रज्वलितं तुषाग्निं निवारितवन्तौ पितुमतीमूर्जमन्नवतीं बलप्रकृतिमत्रये प्रायच्छतम् । ऋबीसेऽपगतप्रकाशे पीडायन्त्रगृहे ऽवनीतमवाङ्मुखतयाऽसुरैः प्रापितं सर्वगणोपेतमत्रिं स्वस्ति यथा भवति तथा उन्निन्यथुः । "तस्माद् ऋबीसनामकात् कारागृहादुद्गमय्य स्वगृहं प्रापितवन्तौ"–इति प्रथमस्यार्थे सायणभाष्यम् ॥ १ ॥ द्वितियस्य हे नरौ ! प्रजापति वरुण-वाग्-वाय्वाग्नि सहयोगेन जनितत्वात् पाञ्चजन्यम्, ऋषिपितृदेवतिर्यग्मनुष्यभेदेन पञ्चधा-विभक्तानां देवयुगसम्बन्धिनराणामभ्यर्हणीयत्वाद्वा पाञ्चजन्यम् । अथवा अणु-द्रुह्यु-तुर्वसु-यदु-पुरूणां पञ्चशाखाविभक्तानां राजवंशानामेव पुरायुगे मनुष्यत्वेन पञ्चजनत्वेन च दैवैर्व्यवस्थापितत्वात् तेषां पञ्चजनानामयत्रिर्मूल-पुरुषत्वादाराध्यो बभूवेति कृत्वा सोऽत्रिः पाञ्चजन्यः प्रसिद्ध आसीत् । अतः पाञ्चजन्यं तमृषिमत्रिं पुत्रकलत्रादिपरिवारगणेन सह तस्माद् ऋबीसनामकात्का-रागृहाद् युवां मुञ्चथः । अशिवस्यानिष्टकरस्य दस्योरसुरस्य मायाः, निगड-बन्धनादिविषयकच्छलव्यापारसम्बन्धिनीर्मिनन्तौ नाशयन्तौ अनुपूर्वं पूर्ववत् स्थितिं प्रचोदयन्तौ प्रवर्तयन्तौ च युवां तमत्रिमृबीसादमोचयतमित्यर्थः" ।

( ६ ) अथात्रेय्यां ब्रह्मपर्षदि प्रतिष्ठितेऽस्मिन्नत्रिवंशे ग्रहनक्षत्रादिज्योतिर्विद्यापरीक्षणं विशिष्य प्रचरितमासीत । प्रथमात्रिकाले हि कदाचित् सर्वग्रासे सूर्यग्रहणे जाते तत्कारणनिर्धारणाय तदानीन्तना बहव एव विद्वांसः प्रयतन्तेस्म । किन्तु सर्वप्रथमं तेष्वात्रेयपर्षदधिष्ठातारोऽत्रय एव याथातथ्येन तत्कारणमवधारयामासुः । तत्र यदवधारितं तद् गणितोपपादनपरो विद्या-

ग्रन्थस्तु तस्यामात्रेयपर्षद्येवाधिष्ठितोऽभूत । तदितिवृत्तं तु केवलं पञ्चभिर्मन्त्रैऋक्संहितायामुपनिबध्यते । तद्यथा—

"यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः ।
अक्षेत्रविद् यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः ॥ १ ॥
स्वर्भानोरध यदिन्द्रमाया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन् ।
गूढं सूर्य तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः ॥ २ ॥
मा मामिमं तव सन्तमत्र इरस्या द्रुग्धो भियसा निगारीत् ।
त्वं मित्रो असि सत्यराधास्तौ मेहावतं वरुणश्च राजा ॥ ३ ॥
ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन् कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन् ।
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरपमाया अघुक्षत् ॥ ४ ॥
यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः ।
अत्रयस्तमन्वविन्दन्न ह्यन्ये अशक्नुवन् ॥ ५ ॥" इति । (ऋ. ५।४०।५-९)

अयमत्राभिसन्धिः । अभिजितं नाम ब्रह्माणं परितः सूर्योऽयं परिक्रामति तस्य ब्रह्मणो रश्मिगताः सर्वे प्राणा ऋषय उच्यन्ते । चन्द्रमसि स्वतः कृष्णवर्णे प्रतिमूर्च्छितैः सूर्यकिरणैरुत्पन्नायां ज्योत्स्नायां स्थिता नानाधर्मविभक्ताः प्राणा मध्यमाः पितर उच्यन्ते । पृथिव्यामप्येवं प्रतिमूर्च्छिते सूर्यकिरणेऽवराः पितरो भवन्ति । सूर्यरश्मिगतास्तु प्रकाशमयाः सर्वे प्राणा नानाधर्मविभक्ताः सर्वे देवा उच्यन्ते । चन्द्रे पृथिव्यां वा सूर्यप्रतिदिग्भागे सूर्यकिरणप्रतिबन्धात् तमोमये वियति सञ्चरन्तः प्राणा असुराः कथ्यन्त इति हि वैदिकी परिभाषा श्रुतिप्रसिद्धा ब्रह्मविज्ञाने सुविशदं निरूपिता । तत्र तस्य चन्द्रस्य पृथिव्याश्चेयं स्वभागव्याप्ता छायामयी भूमापि सर्वासुरप्राणसम्भृतत्वादसुर एवोच्यते । तस्य छायामयस्यासुरस्य तमो राहुः स्वर्भानुरित्येताः संज्ञाः स्युः । अन्धकारमयत्वात्तमः । सूर्यांशुराहित्येन क्लृप्तमूर्तित्वाद्राहुः । सूर्यमण्डलं स्वः, "एषा गतिरेषा प्रतिष्ठा य एष तपति । तस्य ये रश्मयस्ते सुकृतोऽथ यत् परं भाः प्रजापतिर्वा स स्वर्गो वा लोकः" इतीष्टियजमानश्रुतेः । सूर्यमण्डलोपलक्षिते प्रतिदिग्भागे भानुर्भूमोपलक्षितप्रवेशव्याप्तियोग्यः प्रकाशो नियमेन यस्यास्ति स स्वर्भानुः । एष चोभयपार्श्वगतसूर्यकिरणयोः

कर्त्रीरूपयोः सम्पातेन च्छिन्नशिरा दृश्यते। त्रिविधोऽयं राहुः एकः पार्थिवो द्विविधश्चान्द्रश्च। तत्र पार्थिवः सैंहिकेयोऽप्युच्यते। पृथिव्याः सिंहिकारूपेण श्रुतौ निरूपितत्वात्। तदुक्तं लैङ्गे सप्तपञ्चाशाध्याये—

"द्विविधः सूर्यविस्ताराद् विस्तारः शशिनः स्मृतः।
तुल्यस्तयोस्तु स्वर्भानुर्भूत्वाऽधस्ताद्विसर्पते ॥ १ ॥
उद्धृत्य पृथिवीच्छायां निर्मितां मण्डलाकृतिम्।
स्वर्भानोस्तु बृहत् स्थानं तृतीयं यत्तमोमयम् ॥ २ ॥" इति।
(लिङ्गपुराण अ० ५७)

सूर्यमण्डलविष्कम्भाच्चन्द्रविष्कम्भः कदाचिदल्पो भवति कदाचित्तु महान् भवति, कदाचिदुच्चेन कदाचिन्नीचेन च पथा चन्द्रपरिभ्रमणात्। कटकग्रासखग्रासाभ्यां सूर्यग्रहणस्य द्वैविध्येन तथा प्रतिपत्तेः। अनयोर्द्वयोः पार्थिवेन राहुणा चन्द्रग्रहणं भवति। चान्द्रेण तु राहुणा सूर्यग्रहणं सिध्यति। तदेतदनया श्रुत्या निरूप्यते—

हेसूर्य्य ! आसुरोऽसुरनिकायस्वरूपोऽयं स्वर्भानुर्यदा त्वां तमसा चन्द्राधस्तनकृष्णच्छायया अविध्यदावृणोत्, तदा भुवनानि सर्वे लोका अदीधयुर्देवयामासुरज्ञानेन व्यामोहिता बभूवुः। यथा गन्तव्यं क्षेत्रमजानानः कुत्र गच्छामीत्येवं व्यामुग्धो भवति तथा कुत्र सूर्योऽगात् किमिदमभूत कथमकाण्डेऽन्धकारोऽभवदित्यादिरूपेण व्यामोहमापुः ॥ १ ॥

द्विविधः सूर्यः–चित्यश्चितेनिधेयश्च। दृश्योऽयं ज्योतिष्मान् पिण्डश्चित्य.। तदन्तर्गर्भः प्राणात्मा तु चितेनिधेयः स इन्द्रः। "यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी" इति श्रुतेः। तथा च प्रथमंशरीरपिण्डाभिप्रायेणोक्त्वा सम्प्रतिः तत्प्राणाभिप्रायेणापरमुच्यते–स्वर्भानोरिति। अधेत्ययथार्थो निपातः। अपर च हे इन्द्र ! दिवोऽवः सूर्यमण्डलादधोदेशे वर्तमानः स्वर्भानोर्मायाः। अन्यथा सत्यन्यथा प्रतीयमाना वा साधारणैरज्ञेयतत्वा वा निगूहितयाथार्थ्यभावा वा प्रयुज्यमाना प्रक्रिया माया। तथा चैता लोकविस्मयकारिण्यो राहोर्माया यदा सूर्यमवाहन् अवरुध्यालोपयन् तदा अवर्तनीयेन तमसा प्रच्छन्नं सूर्यमयमत्रि महर्षिस्तुरीयेण ब्रह्मणा प्राणो ब्रह्मेति चतुर्थमन्त्रोपात्तेन विज्ञानप्रकारेणा-

विन्दन्, सूर्यं विलुप्तं पुनरलभत। तत्रैव दिवि यथावत् स्थितमजानादित्यर्थः ॥२॥

उक्तं पूर्वम्, यत्र यत्र वस्तुन्यारम्भकविधयाऽयमत्रिप्राण उपादीयते तद्वस्तु कठिनं भवन् पारदर्शकत्वाद्विहीयेत। तेन प्रत्याहृतः सूर्यरश्मिः परावर्तितो भवतीति। तदनुसारेणेह तृतीयो मन्त्रः सूर्यमुखेनार्थमाह—मामामिममिति। हे अत्रे! चन्द्रमण्डलारम्भकात्रिप्राण! इमं मां सूर्यं तव सन्तं चन्द्रमण्डलं प्रत्युपस्थितरश्मित्वाच्चन्द्रगतात्रिप्राणानुगत्वाच्चात्रिप्राणानुगृहीतं द्रुग्धो द्रोग्धाऽसुरः स्वर्भानुरिरस्याऽन्नेच्छया ग्रसनाभिप्रायेण भियसा भयङ्करतमसा मा निगारीत् मा निगिलतु सर्वथा विलुप्तं मा करोतु। प्रतिवस्तु नियता शक्तिः सत्यमिति ब्रह्मविज्ञाने व्याख्यातम्। चन्द्रगतवस्तुशक्तिसाधितस्त्वमत्रिप्राणो मित्रोऽसि वरुणो राजा चासि। उभयसांमुख्येन परस्पराभिगमनं मित्रत्वम्, विरुद्धदिग्वृत्त्या प्रत्यावरणं वरुणत्वम्। सूर्यमण्डलाधस्तनस्य चन्द्रमण्डलस्योपरिभागे मित्रोऽस्तीति सूर्यरश्मयः प्रतिरुद्धाश्चन्द्रेण वियुज्यन्ते। "अहर्वै मित्रो रात्रिर्वरुणः" इति श्रुतेः। तत्रायं मित्रो वरुणो वा चन्द्रगतस्त्वमत्रिप्राण एवासि। यदि चन्द्रेऽत्रिप्राणो नाभविष्यत् तदा तस्य पारदर्शकत्वप्राप्त्या सूर्यरश्मिप्रतिबन्धायोगान्मित्रो वरुणो वा नाभविष्यताम्। अत्राऽत्रिभूतौ तौ मित्रावरुणौ युवां मां सूर्यमिह स्वर्भानुग्रासकाले अवतम्=अवगमयतम्। अवतिरवगमार्थः। चन्द्रस्याधस्ताच्चन्द्रेणावरोधादयं सूर्यो न दृश्यते। चन्द्रस्योपरिष्टात्त्वयं सूर्योऽनवरुद्धः पूर्ववद् दृश्यत एवेत्यतो नायं सूर्यो विलुप्तोऽस्तीत्यर्थो मित्रवरुणाभिज्ञानादवगम्यते ॥ ३ ॥

अत्रिर्महर्षिः पूर्वं ग्रहणकाले सूर्यं द्रष्टुं कञ्चिदपूर्वं यन्त्रविशेषं निर्मापयामास। ग्रावकीरिनमांसि तस्यैव यन्त्रस्याङ्गानि सम्भाव्यन्ते। उपरागकाले सूर्यादर्शने सति सोऽत्रिर्ब्रह्मा ग्राव्णो युञ्जन्ऽकीरिणा देवानाराधयन् नमसा प्रसाधयन्, सूर्यस्य दिवि सूर्योपलक्षिताकाशभागे स्वं चक्षुराधात्। तेनायं स्वर्भानोर्मायाः परान्मोहयन्तीः प्रक्रिया अपायुक्त न्यवारयत्। अत्रिकृतमन्त्रस्येदानीमनुपलब्धेस्ततः सूर्यदर्शनप्रकारस्तदवयवभूतानि ग्रावकीरिनमांस्यपि यथावन्न ज्ञायन्ते इति भाव्यम् ॥ ४ ॥

अथोपसंहरति—

पुरा युगे सूर्योपरागत्वविविदिषया कृतप्रयत्नेषु तदानीन्तनकृतविप्रेषु यं यं सूर्यमासुरः स्वर्भानुस्तमसाऽविध्यत् , यदा यदा सूर्योपरागोऽभवत् तदा तदा तमत्रय एवान्वविन्दन् नान्ये विद्वांसो यथावज्ज्ञातुं तमशक्नुवन् इति ॥ ५ ॥

एतच्छ्रुतिमूलकमेवार्थं पौराणिकाः आख्यानकरूपेणोपन्यबध्नन् । तथाहि भारतेऽनुशासनपर्वणि दानधर्मे भीष्ममुखेनाहुः—

"घोरे तमस्ययुध्यन्त, सहिता देवदानवाः ।
अविध्यत शरैस्तत्र स्वर्भानुः सोमभास्करौ ॥ १ ॥
अथ ते तमसा ग्रस्ता निहन्यन्तेस्म दानवैः ।
अपश्यन्त तपस्यन्तमत्रिं विप्रं तपोधनम् ॥ २ ॥
अथैनमब्रुवन् देवाः, शान्तक्रोधं जितेन्द्रियम् ।
नाधिगच्छाम शान्तिश्च, भयात् त्रायस्व नः प्रभो ! ॥ ३ ॥"

अत्रिरुवाच

"कथं वक्ष्यामि भवतस्तेऽब्रुवंश्चन्द्रमा भव
तिमिरघ्नश्च सविता, दस्युहन्ता च नो भव ॥ ४ ॥
एवमुक्तस्तदात्रिर्वै तमोनुदभवच्छशी ।
अभवत् सौम्यभावाच्च सोमवत्प्रियदर्शनः ॥ ५ ॥
दृष्ट्वा नातिप्रभं सोमं, तथा सूर्यञ्च पार्थिव ।
प्रकाशमकरोदत्रिस्तपसा स्वेन संयुगे ॥ ६ ॥
जगद्वितिमिरं चापि प्रकाशमकरोत्तदा ।
व्यजयच्छत्रुसंघाँश्च देवानां स्वेन तेजसा ॥ ७ ॥
अत्रिणा दह्यमानाँस्तान्, दृष्ट्वा देव महासुरान् ।
पराक्रमैस्तेऽपि तदा व्यघ्नन्नत्रिरक्षिताः ॥ ८ ॥

उद्भ्रामितश्च सविता देवास्त्राता हतासुराः ।
अत्रिणा तत्र सामर्थ्यं, कृतमुत्तमतेजसा" ॥ ९ ॥ इति ॥

अत्र स्मार्ते कथानके सर्वोऽर्थः श्रुत्यर्थानुसारेणैव नेयः । तद्विरुद्धोऽर्थस्तु काल्पनिकत्वादुपेक्ष्य इति तत्वम् ।

सूर्येऽकस्मान् स्वर्भानुना ग्रस्ते सर्वतोऽन्धकाराच्छन्ने भयभीतेषु देवेषु सत्सु चन्द्रकृतमिदं सूर्यस्यावरणं न त्वन्यद् भयकारणमस्तीत्यत्रिणा स्वविद्यया देवानां भयनिरासः कृतः, ततः परितुष्टैर्देवैस्तस्मा अत्रये वरदानं दत्तमित्याथर्वणश्रुतौ श्रूयते—

"आदित्यं हि तमो जग्राह । तदत्रि रपनुनोद ।
तदत्रिरन्वपश्यत् । तदप्येतद् ऋचोक्तम् ।
स्तुताद्यमत्रिर्दिवमुन्निनाय । दिवित्वऽत्रिरधारयत्
सूर्या मासाय कर्तवे ॥ इति ॥
तं होवाच—वरं वृणीष्वेति । स होवाच—दक्षिणीया मे प्रजा स्यादिति ।
तस्मादात्रेयाय प्रथमदक्षिणा यज्ञे दीयन्ते"। इति ।(गो.पू.भा.२।१७)

एतेन पुरा देवयुगेऽपि पारितोषिकप्रदानप्रचारो गम्यते । शाश्वतिकयशः-प्रतिष्ठालाभार्थं स्मारकविधया धर्म्मविशेषव्यवस्थापनमेव च पारितोषिकं विशिष्यासीदिति च गम्यते । अत्रिगोत्रेभ्यो यज्ञे प्रथमं दक्षिणा दीयते इति हि तत एवारभ्य यज्ञे देवैः कृता व्यवस्था प्रथमात्रिकीर्तिस्मारिकाद्यापि प्रवर्तत इति च गम्यते—इति बोध्यम् ।

( १० ) अथैतदस्मिन् समये भद्राश्वो नाम कश्चिद्राजासीत् । तस्याप्सरसि घृताच्यां प्रभाकरो नामैकः पुत्रो दश चान्याः कन्या जज्ञिरे—भद्रा, शूद्रा, मद्रा, शलभा, मलदा, बला, हला, गोचपला, तामरसा, रत्नकूटा चेति । ताः सर्वा अप्ययं भद्राश्वस्तस्मै अत्रये भार्यात्वेन प्रददौ । तासां भद्रायामत्रेः पुत्रः सोमो जज्ञे । स ब्रह्मयोनिरपि ब्रह्मणः प्रसादेन ब्राह्मणगन्धर्वादीनां राज्येऽभिषिक्ततया पश्चात् क्षत्रियः समपद्यत । अथान्यास्वप्यत्रिभार्यासु कतिपये पुत्रा बभुवुः—दत्तः

दुर्वासाः, अकल्मषः, सत्यनेत्रः, दीप्तिमान्, आपोमूर्तिः, तरुणः, निष्प्रकम्पः, युक्तः—इत्यादयः। सर्वे चैतेऽत्रिवंशधरा ब्राह्मणाः स्वस्त्यात्रेया उच्यन्ते। तेषु दत्तो दुर्वासाश्चेति द्वौ ब्राह्मणौ विख्यातौ बभूवतुः। तत्र तत्तगोत्रान्वये श्यावाश्वा मुद्गला वाग्भूतका गविष्ठिरा इति चतुर्विधा अत्रयः पुरा युगे देवलोके मनुष्यलोके च सुप्रसिद्धा आसन्। तदिदमुक्तं—ब्रह्माण्डोपोद्घातेऽष्टमाध्याये—

"अत्रेर्वंशं प्रवक्ष्यामि तृतीयस्य प्रजापतेः।
तस्य पत्न्यस्तु सुन्दर्य्यो दशैवासन् पतिव्रताः॥ १॥
भद्राश्वस्य घृताच्यां वै दशाप्सरसि सूनवः।
भद्रा शूद्रा च मद्रा च शलभा मलदा तथा॥ २॥
बला हला च सप्तैता या च गोचपला स्मृता।
तथा तामरसा चैव रत्नकूटा च तादृशी॥ ३॥
तत्र यो वंशकृच्चासौ तस्य नाम प्रभाकरः।
मद्रायां जनयामास सोमं पुत्रं यशस्विनम्॥ ४॥
स तासु जनयामास पुत्रानात्मसमानकान्।
स्वस्त्यात्रेया इति ख्याता ऋषयो वेदपारगाः॥ ५॥
तेषां द्वौ ख्यातयशसौ ब्रह्मिष्ठौ सुमहौजसौ।
दत्तो ह्यनुमतो ज्येष्ठो दुर्वासास्तस्य चानुजः॥ ६॥
यवीयसी सुता तेषामबला ब्रह्मवादिनी।
दत्तात्रेयं तनुं विष्णोः पुराणज्ञाः प्रचक्षते॥ ७॥
तस्य गोत्रान्वया जाताश्चत्वारः प्रथिता भुवि।
श्यावाश्वा मुद्गलाश्चैव वाग्भूतकगविष्ठिराः॥ ८॥" इति॥

अत्राबलाशब्दो लेखप्रमादादपपाठः। ऋक्संहितायामष्टममण्डले एकनवतिसूक्तस्य द्रष्ट्र्या ऋषिकाया अपालानाम्ना प्रसिद्धेः। अपालाभिप्रायेणैवायमबलाशब्दः पठ्यते ब्रह्मवादिनीत्वाभिमानात्। अपालाविश्ववाराभ्यामात्रेयीभ्यामन्यस्या आत्रेय्या ब्रह्मवादित्वास्मरणात्।

(११) ब्राह्मे (अ० ७४) तु गौतमीमाहात्म्ये परुष्णीकथानकमुक्तम्—

"अत्रिराराधयामास, ब्रह्मविष्णुमहेश्वरान् ।
तेषु तुष्टेषु स प्राह, पुत्रा यूयं भविष्यथ ॥ १ ॥
तथा चैका रूपवती कन्या मम भवेत् सुराः ।
ततः पुत्रत्वमापुस्ते, ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥ २ ॥
कन्यां च जनयामास, शुभात्रेयीति नामतः ।
दत्तः सोमोऽथ दुर्वासाः, पुत्रास्तस्य महात्मनः ॥ ३ ॥
अग्नेरङ्गिरसो जातो, ह्यङ्गारैरङ्गिरा ऋषिः ।
तस्मा अङ्गिरसे प्रादादात्रेयी मतिरोचिषम् ॥ ४ ॥
अग्नेः प्रभावात् परुषमात्रेयीं सर्वदाऽभवत् ।
आत्रेय्यपि च शुश्रूषां कुर्वती सर्वदाऽभवत् ॥ ५ ॥
सा कदाचिद् भर्तृवाक्यादुद्विग्ना परुषाक्षरात् ।
कृताञ्जलिपुटा दीना प्राब्रवीच्छ्वशुरं गुरुम् ॥ ६ ॥
पतिर्मां परुषं वक्ति वृथैवोद्वीक्षते रुषा ।
प्रशाधीमं सुरज्येष्ठ भर्तारं मम दैवतम् ॥ ७ ॥"

अग्निरुवाच—

"अङ्गारेभ्यः समुद्भूतो भर्ता ते ह्यङ्गिरा ऋषिः ।
यथा शान्तो भवेद् भद्रे तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ ८ ॥
श्वशुरस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वाऽऽत्रेयी तदैव तत् ।
आग्नेयं रूपमापन्नमम्भसाऽऽप्लावयत् पतिम् ॥ ९ ॥
उभौ तौ दम्पती ब्रह्मन् सङ्गतौ गाङ्गवारिणा ।
शान्तरूपधरौ चोभौ दम्पती सम्बभूवतुः ॥ १० ॥

भर्तारं प्लावयन्ती सा दधाराम्बुमयं वपुः ।
परुष्णी चेति विख्याता गङ्गया सङ्गता नदी ॥ ११ ॥
तत्र चाङ्गिरसश्चक्रुर्यज्ञाँश्च बहुदक्षिणान् ।
विशेषतस्तु गङ्गायाः परुष्ण्या सह सङ्गमे" ॥ १२ ॥ इति

परुष्णीतीयमिरावत्याः पञ्चनदान्तर्गतायाः वैदिकी संज्ञा । "इरावतीं परुष्णीत्याहुः" (९।२६) इति यास्कनिरुक्तात्। इरावतीनिर्गमप्रदेशोऽत्रिस्थानमासीदिति वायुपुराणे उक्तम् । तत्रात्रिप्राणस्य भूयसोपसंनिधानात् स्वानुकूल्यं दृष्ट्वा नरविधोऽप्यत्रिस्तत्र चिरं तपस्तेपे । अत्रिप्राणसाधनमेवास्य तपश्चरणम्। अत्रिप्रधानस्थानात् प्रवर्तमानत्वादस्या परुष्ण्या अत्रिकन्यात्वमारोप्यते । साऽत्रिस्थानादागत्याङ्गिरःस्थानमागतेति विवाहकल्पना क्रियते। अङ्गिरःस्थानञ्च यज्ञप्रधानस्थानत्त्वादग्निप्रायस्थानमेव तच्च दृषद्वत्यापयासरस्वतीशतद्रूविपाशैरावतीभिर्नदीभिरुपलक्षितप्रदेशरूपम — "नि त्वा दधे वर आ पृथिव्या इडायास्पदे सुदिनत्वे अह्नाम् , दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि" (ऋ.३।२३।४) इति मन्त्रे इडायास्पदे इत्यनेन यज्ञाग्निदीपनप्रदेशस्यैरावतीपर्यन्तत्वावगमात्। अथवा ब्रह्मावर्तीयब्रह्मपर्षदधिष्ठाताऽयमङ्गिरा ब्रह्मा पश्चिमस्थाया इरावत्या अर्वागेव यज्ञोपयुक्तभूमिं व्यवस्थापयन् यतो नेरावतीप्रदेशं यज्ञार्थं रोचयते तत एवाहुरात्रेयीपरुषं भासते—इति । अङ्गिराश्चात्र यज्ञान्निवर्तत इत्यत आहुरात्रेयी ह्रीयमग्निं गतमङ्गिरसं शमयामासेति । गङ्गेति काचिदिरावत्यां सङ्गता शाखानदी स्यात् । तदिदमाधिदैविकं वृत्तमाधिभौतिकोपाख्यानविधयोपनिबद्धम्। वस्तुतस्तु नेयमात्रेयी परुष्णी नामिका काचिन्मनुष्यविधात्रिकन्याऽऽसीत्। आध्यात्मिकाधिदैविकयोरप्यर्थयोराधिभौतिकत्वेनोपरञ्ज्योपाख्यानकरणस्य पौराणिकस्वभावसिद्धत्त्वात् ।

१२—"यत्तु अत्रेः पुत्रोऽभवद्बर्हिः सोदर्य्यस्तस्य नैध्रुवः ।
कृशाश्वस्य तु विप्रर्षेर्घृताच्यामिति नः श्रुतम् ॥ १ ॥
स तस्यां जनयामास स्वस्त्यात्रेयान्महौजसः ।
वेदवेदाङ्गनिरतान्तपसा हतकिल्विषान् ॥ २ ॥"

इति कौर्म्मे ऊनविंशाध्याये उक्तम्। तत्रायं लेखकदोषादस्ति कश्चित् त्रुटितः पाठ इति संशोधनीयत्वादुपेक्ष्यते।

१३—अथैषां सोम-दत्त-दुर्वाससां सम्बन्धेनापि कतिपये पौराणिका भ्रान्त्या बहुभक्तिवादमाहुः। विष्णुपुराणे (१।१०।८-६) तावदेकस्या एवानसूयाया गर्भे त्रयाणामेषामुत्पत्तिरुच्यते। भागवते (८७) चात्रेरृक्षपर्वते तपश्चरतः पुत्रार्थमीश्वरमाराधयतस्तपसा परितुष्टा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरास्त्रयो देवाः सहैवागता आकाशमार्गे स्थित्वा तमत्रिमूचुः। त्रयो देवा वयमेक ईश्वर इति कृत्वेश्वराराधनया प्रसन्ना वयं स्वस्वांशैस्त्रयस्ते पुत्रा भविष्याम इति। ततो ब्रह्मा स्वांशेन चन्द्रो विष्णुः स्वांशेन दत्तात्रेयः शिवः स्वांशेन दुर्वासा इत्येवं त्रयः पुत्रा अत्रेरुद्बभूवुरित्युक्तम्—

**य एते प्राणाः परिक्षुब्धा उष्णा अभवन् तत्रायमुत्पन्नोऽग्निरेव स स्वयंभूरात्मा उष्णानां भूयः क्षोभेऽग्नितापात् परिक्लिन्ना बहवोद्रवाभूत्वा आपोऽभूवन्**

परेत्वाहुः। अत्रेरस्य भार्याऽनसूया पतिव्रताऽसीत्। तस्याः पातिव्रत्यपरीक्षार्थं ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः सहात्र्याश्रममागत्य नग्नावस्थायामनसूयातो भिक्षामर्थयामासुः। तेषां तथा चरितं दृष्ट्वा सा पातिव्रत्यप्रभावेण सद्यस्तान् बालकान् भावयामास ततः सावित्रीलक्ष्मीपार्वतीनां प्रार्थनया तान् बालकत्वादुन्मोच्य पूर्वावस्थां प्रापय्य सावित्र्यादिभ्योऽर्पयामास। ततस्त्रयस्ते ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः स्वस्वांशसंयोगादेकां मूर्तिं कल्पयित्वाऽनसूयायाः पुत्रत्वमङ्गीचक्रुः। तैर्दत्तत्वान् दत्तात्रेयं तमाचक्षते इति। अत्र मते दत्तात्रेयस्त्रयाणामंशेभ्य उत्पन्नोऽभूत्। पूर्वमते तु त्रयाणां पृथगंशैः पृथगुत्पन्नेषु त्रिषु पुत्रेषु दत्तोऽयं केवलाद्विष्णोरंशादुत्पन्न इति भेदः। वस्तुतस्तु देवयुगे चिरन्तनादत्रेरिमे सोमदत्तादयोऽभूवन्। न च तत्र युगे ब्रह्मविष्णुमहेश्वराख्यानां त्रयाणां देवानामेकेश्वरान्वाख्यानं सुप्रतिपन्नमासीत् वेदमन्त्रेषु कुत्रापि तेषां त्रयाणां तथा साहचर्य्याख्यानानुपलब्धेः। तस्मादश्रौतोऽयमर्थो नातीव श्रद्धेय इत्युपेक्ष्यते। महाभारतशान्तिपर्वणः सप्तोत्तरद्विशततमाध्याये (शां० २०७।१०) सोमश्चार्यमा चेति द्वावत्रिपुत्रावाख्यातौ। तत्रान्येषामुत्तरोत्तरात्रिपुत्रत्वेऽपि बहुवचनस्वारस्यान् सोमस्य प्रथमात्रिपुत्रत्वं निःसन्दिग्धं प्रत्येतव्यम्।

१४—अत्र केचिन् प्रत्यवतिष्ठन्ते । सोमोऽयं नात्रेरौरसः स्वधर्मपत्न्यामनसूयायामुत्पन्नः पुत्र आसीत् किन्तु अत्रिनेत्रपरिस्रु तजलतोऽयमुत्पन्नत्वादयोनिजः पुत्रो द्रष्टव्यः । ऐतिहासिकसमये तथैव भूयसा स्मरणात तथाहि ब्रह्माण्डोपोद्घाते हरिवंशे च —( ३.६५ )

"पिता सोमस्य वै विप्रा जज्ञेऽत्रिर्भगवानृषिः ।
काष्ठकुड्यशिलाभूत ऊर्ध्वबाहुर्महाद्युतिः ॥ १ ॥
सुदुश्चरं नाम तपो येन तप्तं महत् पुरा ।
त्रीणि वर्षसहस्राणि दिव्यानीति हि नः श्रुतम् ॥ २ ॥
तस्योर्ध्वरेतसस्तत्र स्थितस्यानिमिषस्य ह ।
सोमत्वं तनुरापेदे महाबुद्धिः स वै द्विजः ॥ ३ ॥
ऊर्ध्वमाचक्रमे तस्य सोमत्वं भावितात्मनः ।
नेत्राभ्यामस्रवत्सोमो दशधा द्योतयन् दिशः ॥ ४ ॥
तं गर्भं विधिना हृष्टा दश देव्यो दधुस्तदा ।
समेत्य धारयामासुर्न च ताः समशक्नुवन् ॥ ५ ॥
स ताभ्यः सहसैवाथ दिग्भ्यो गर्भः प्रसाधितः ।
पपात भासयँल्लोकान् शीतांशुः सर्वभावनः ॥ ६ ॥
यदा न धारणे शक्तास्तस्य गर्भस्य ता दिशः ।
ततः सहाभिः शीतांशुर्निपपात वसुन्धराम् ॥ ७ ॥
पतन्तं सोममालोक्य ब्रह्मा लोकपितामहः ।
रथमारोपयामास लोकानां हितकाम्यया ॥ ८ ॥
स हि वेदमयो विप्रा धर्मात्मा सत्यसङ्गरः ।
युक्तं वाजिसहस्रेण रथेऽध्यास्तेति नः श्रुतम् ॥ ९ ॥
स तेन रथमुख्येन सागरान्तां वसुन्धराम् ।
त्रिःसप्त कृत्वोऽतियशाश्चकाराभिप्रदक्षिणाम् ॥ १० ॥

तस्य यद्वर्द्धितं तेजः पृथिवीमन्वपद्यत ।
ओषध्यस्ताः समुद्भूतास्तेजसा ज्वलयंन्त्युत ॥ ११ ॥
ताभिः पुष्णात्ययं लोकान् प्रजाश्चापि चतुर्विधाः ।
पोष्टा हि भगवान् सोमो जगतो हि द्विजोत्तमाः ॥ १२ ॥
ततस्तस्मै ददौ राज्यं ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः ।
बीजौषधीनां विप्राणामपांच द्विजसत्तमाः ॥ १३ ॥ इति ।

एवमेव मात्स्ये पाद्मे चोक्तम । तथा चात्रेः स्वधर्मपत्न्यां समुद्रायां वाऽनमूयायां वा सोमोऽयमौरसः पुत्रोऽभूदिति विप्रतिपन्नमिति चेदत्र ब्रूमः—

१५—नरविशेषस्यात्रेर्नेत्रप्रस्रवणोदकान्नरविधस्य सोमस्योत्पत्तिरभूदित्येवं तावन्न प्रतिपत्तव्यम् श्रुतिस्मृतितात्पर्यविरुद्धतया तस्यार्थस्य नितान्तभ्रान्तत्वात । अपि तु नरविधस्यात्रेः स्वधर्मपत्न्यामेव नरविधः सोमो जज्ञे । अनरविधस्य त्वत्रेरश्रुजलादनरविधः सोमो जज्ञे इत्यर्थपृथक्त्वात् सोमोत्पत्तिद्वैविध्यं द्रष्टव्यम् । तथाहि—

१६—वैदिकीनामितीहासश्रुतीनां त्रिपथगात्वं ब्रह्मप्रसङ्गे पूर्वमाख्यातम् । ततो भाषान्तरीकृताः पुराणनामानः सृष्टीतिहासाः प्रायेणाधिदैविका एव सन्तोऽध्यारोपेणाध्यात्ममधिभूत चोपनीयन्ते । तत्रैते चरित्रनायका ऋषिपितृदेवासुरगन्धर्वादयोऽर्था अध्यात्मं शरीरारम्भका इष्यन्ते । अधिदैवतं ते ब्रह्माण्डव्यापिनो निरूढा यौगिका वा प्राणाः स्युः । अधिभूतं तु ते सर्वेऽपि प्राणिनो नरा अपेक्ष्यन्ते । तत्रैतेषामाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकानां लक्ष्याणां यत्र यत्रैवार्थेषु प्रक्रियासाम्यं लक्ष्यते त एवार्थाः प्रायेणेतिहासमर्यादयोपनिबध्यन्ते । यत्र तु पूर्वापरसाम्यभूयस्त्वेऽपि क्वचित् क्वचिदंशे वैषम्यमापतति तत्र सर्वार्थसामञ्जस्येनोपपादनाशक्यत्वादितिहासलेखकस्येच्छानुरोधेनैतदधिकरणत्रयतः कश्चिदेकमेव पक्षं गृहीत्वा सन्दर्भयोजना क्रियते इति पौराणिकः समयोऽभ्युपगम्यते । तदनुसारेण प्रकृतेऽप्यत्रेः सोमोत्पत्तावेकत्र ब्रह्माण्डोपोद्घातेऽधिभूतपक्षमेव प्रधानीकृत्य भद्रायां पत्न्यामत्रेः पुत्रः । सोमो व्याख्यातः । सिन्धुनदात पश्चिमे देशे निवसतां गन्धर्वाणां राज्ञः सोमस्य तथैवात्रेरुत्पन्नत्वात अन्यत्र

पुनराधिदैवतपक्षमेव प्रधानीकृत्य तप्यमानस्यात्रेर्नेत्रप्रस्रवणरसान् सोमोत्पत्ति-राख्यायते। आधिदैविकस्येमां पृथ्वीं परितश्चरतश्चन्द्रस्य तथैवात्रे रुत्पन्नत्वात्। इत्थंचाधिभौतिकान्नरजातीयादत्रेः स्वधर्मपत्न्यां भद्राख्यायामनसूयायामुत्पन्नो गन्धर्वजातीयो नरविधश्चन्द्रो भिन्नः। आधिदैविकात्तु प्राणज्ञानोयादत्रेर्नेत्र-प्रस्रुतरसादुत्पन्नो दिवि प्रकाशमानः पृथिवीं परितः क्रममाणोऽयं चन्द्रो भिन्नः। तयोरुत्पत्तिप्रकारभेदेऽप्यत्रिजातत्वं साधर्म्यम्।

या रुक् पारिजातस्य, शशिनः सज्जनस्यच।
न सा वै रात्रिजातस्य तमसो दुर्जनस्यच॥"

इत्यादौ दिविष्ठचन्द्राभिप्रायेण यथात्रिजातत्वमुच्यते तथाऽनाधिदैविकयो-र्दत्तदुर्वाससोरात्रेययोः सजातभ्रातृभावेनोक्तस्य नरविशेषस्य चन्द्रस्याप्यत्रिजा-तत्वोपपत्तेः। तत्र नरविशेषस्य चन्द्रस्यात्रेरनसूयायामुद्भवाख्यानं निर्विवादम्। दिविष्ठस्य तु चन्द्रमण्डलस्योत्पत्तिः कथमभूदिति जिज्ञासायां प्रस्तुतेनानेन चन्द्रोत्पत्तिप्रकारेणाकाशचारिसोमोत्पत्तिस्थितिरहस्यं सुविज्ञानं भवति।

१७—तथाहि तत्रैततसोमोत्पत्तिविवक्षया ब्रह्मणोऽत्रे रुत्पत्तिस्तावदा-ख्यायते—अस्ति खलु सर्वजगद्व्यापी सूक्ष्मोऽव्यक्तः कश्चिदव्याकृतोऽर्थः तत्रा-शनायावशात् क्षोभः समभवत्। अनात्मन्विनी तावदादावशनायाऽसीत्। तन्मनोऽकुरुत। आत्मा मे स्यादिति। ततः स्वयमत्रार्कः कश्चिदशनायावान-भवत्। अप्सु सर्वजगद्बीजं हिरण्यगर्भोब्रह्मा वायुमयः प्रादुरभूत्। यावद-शनायाऽसीत् तावदग्नि स्तावदापः। तदिदमेकं हिरण्मयमण्डमुच्यते। हिरण्य-मित्यग्निरेतसां संज्ञा। तद्गर्भे यो नभ्यआत्मा वायुः स हिरण्यगर्भो ब्रह्मा स एवैतस्मिन ब्रह्माण्डे सृष्टिकर्ता। सोऽग्निमयश्चापोमयश्च द्विधाभूतस्ताभ्यां स्त्रीपुंभ्यामिव भागाभ्यां विराजमुदपादयत्। चित्यःकश्चित्परिच्छिन्नो यज्ञमयो-ऽन्नमयोऽग्निर्विराट्। सेयं पृथ्वी नाम। स तप्यमानोऽन्तरगर्भे चितेनिधेयं नामाग्निमजनयत्। तमग्निं मनुरित्याचक्षते पौराणिकाः मनोर्मरीच्यादयो दश प्राणा अभवन्।

सोऽयमर्थस्तावद् वाजसनेयश्रुतौ श्रूयते—

"नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्-मृत्युनैवेदमावृतमासीत्-अशनायया। अशनाया हि मृत्युः। तन्मनोऽकुरुत आत्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्। तस्यार्चत आपोऽजायन्त। आपो वा अर्कः। तद्यदपां शर आसीत् तत्समहन्यत। सापृथिव्यभवत्। तस्यामश्राम्यत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्ततार्ग्निरिति" ॥

एतदनुसारेण मनुरप्याह—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ १ ॥
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ २ ॥
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ ३ ॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ ४ ॥
यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ५ ॥
द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥ ६ ॥
तपस्तप्त्वाऽसृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ ७ ॥
प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ ८ ॥

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ९ ॥
अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।
पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥ १० ॥
मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठञ्च भृगुं नारदमेव च ॥ ११ ॥
एते मनूँस्तु सप्तान्यानसृजद् भूरितेजसः ।
देवान् देवनिकायाँश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥ १२ ॥
मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः ।
तेषामृषीणामाद्यानां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥ १३ ॥
ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः ।
देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥ १४ ॥" इति ॥

१८—नायं मनुर्विराजोऽतिरिच्यते । चित्यचितेनिधेययोः समानायतनत्वेनैकपुरुषत्वाभिमानात् । विराट् चायं हिरण्यगर्भान्नातिरिच्यते। हिरण्यगर्भप्राणस्यैव चित्या तदुत्पत्तेः, अत एवैषां मरीच्यादीनां मनुजन्यत्वमिव विराड्जन्यत्वं ब्रह्मजन्यत्वञ्च पुराणोक्तं न विरुध्यते । एषु च मरीच्यादिषु भृग्वङ्गिरोऽत्रीणामुत्पत्तिं शौनकः आह बृहद्देवतायाम्—

"त्रिसांवत्सरिकं सत्रं प्रजाकामः प्रजापतिः ।
आहरत् सहितः साध्यैर्विश्वैर्देवैः सहेतिच ॥ १ ॥
तत्र वाग् दीक्षणीयायामाजगामाशरीरिणी ।
तां दृष्ट्वा युगपत्तत्र कस्याथ वरुणस्य च ॥ २ ॥
शुक्रं च स्कन्द तद्वायुरग्नौ प्रास्यद् यदृच्छया ।
ततोऽर्चिभ्यो भृगुर्जज्ञे अङ्गारेभ्योऽङ्गिरा ऋषिः ॥ ३ ॥
प्रजापतिमुतौ दृष्ट्वा हृष्टा वागभ्यभाषत ।

आभ्यामृषिस्तृतीयोऽपि भवत्वत्रैव मे सुतः ॥ ४ ॥
प्रजापतिस्तथेत्याह भाषमाणां तु भारतीम् ।
ऋषिरत्रिस्ततो जज्ञे सूर्यानलसमद्युतिः ॥ ५ ॥ इति ॥

प्रजापतिरत्र संवत्सरः सौरः । तस्य त्रैवार्षिके पृथिव्या योगे पार्थिवप्राजपतः प्राणस्य महिमा वागुपसृत्य । वाग्वादिवदशरीरिणी सती पृथिव्या बहिर्धाऽभवत् । तत्र दक्षवरुणयोरसौ वायुभूतौ संश्लिष्टावभूताम् । दक्षस्तावदयं दशदिग्भ्यः स्वयं प्रस्रवतां प्रचेतोनाम्नां रसानां संयोगजन्मा दिक्‌सोममयः प्राणः । सोऽनवरतमिह पृथिव्यामुपसर्पति । एवं सूर्यमण्डलप्रकाशतो बहिश्चतुर्दिक्षु परिव्याप्ताद‌म्भःसमुद्रादापोमयः प्राणः पृथिव्यामुपसर्पति स वरुणः । तयोश्च पृथिव्या रसे वाङ्मये प्राणे संस्रवो भवति । पञ्चभूतानामादिभूतमाकाशनामकं तत्वं सर्वजगद्व्यापीह पार्थिवप्राणसलग्नं तत एवोद्भूतं विवक्ष्यते । तेषां संघर्षादग्निर्वसुरुदभवत् । तस्मिन्नग्निस्वरूपे भृग्वङ्गिरोऽत्रयः प्राणाः सम्भवन्ति तत्र अर्चिषि भृगुः संबभूवेति । भृगुर्वारुणिरिति । अङ्गारेष्वङ्गिराः सम्बभूवेति । "त्वमग्ने अङ्गिराः प्रथम ऋषिः" इति श्रुतिभ्यो वरुणांशतो भृगुरग्न्यंशतस्त्वङ्गिरा अभ्युपगम्यते । अग्निस्त्वत्र पृथिव्या आत्मा पृथ्वीतो बहिर्भवन् सांवत्सरः । अथ यावानिह वाचिको भाग उदपतत् सोऽत्रिर्नाम प्राणो भवति । यथाऽर्चिषि भर्जनप्रधानः पचमानः पच्यमानो वा वारुणो भागो भृगुर्नाम जायते । यथा वा पार्थिवे काष्ठादिघनद्रव्ये गर्भगतो रक्तोऽर्थो दहनकाले दृश्यते स वस्तुतो घनकृष्णवर्णः काष्ठाद्यङ्गिरसत्वादङ्गिरःशब्देनोच्यते । तथाऽयं दह्यमानः काष्ठादिर्बहिःस्थितं वायुरसाद्यर्थमात्मानि येनाकृष्य स्वदिति स भोक्ता प्राणोऽदनप्रधान्यादत्रिर्नामोच्यते । उत्पत्तिरियमत्रेरुक्ता ।

१६—अत्रेदं कश्चित् प्रत्यवतिष्ठते । असमञ्जसमिदं शौनकोक्तमत्रिजन्माख्यानम् । तथाहि कस्माथ वरुणस्य चेति ब्रुवन् शौनकः पूर्वसतः कस्य वरुणेन योगादत्र्युत्पत्तिमभिप्रैति । स च कस्तावद्दक्षो नाम प्रजापतिरुच्यते । तस्य चात्रिवंशप्रसूतादर्वाक्कालिकान् प्राचीनबर्हिषः सवर्णायां सामुद्र्यामुत्पन्नेभ्यो दशभ्यः प्रचेतोभ्यो मारिषायां वार्क्ष्यां सामकन्यायामर्द्धेन . सोमांशेनार्द्धेन

प्रचेतोंऽशेन च पश्चादुत्पत्तिराख्यायते विष्णुपुराणे प्रथमांशे पञ्चदशाध्याये ब्राह्मप्रथमाध्याये च। महाभारतशान्तिपर्वणि मोक्षधर्मे स्वस्तिकाध्याये—

"अत्रिवंशे समुत्पन्नो ब्रह्मयोनिः सनातनः ।
* प्राचीनबर्हिर्भगवाँस्तस्मात् प्रचेतसो दश ॥ १ ॥
दशानां तनयस्त्वेको दक्षो नाम प्रजापतिः ।
तस्य द्वे नामनी लोके दक्षः क इति चोच्यते ॥ २ ॥ इति ।

बर्हिर्धानाद्धिपणायां प्राचीनबर्हिरभूत्। अन्तर्द्धानान् शिखण्डिन्यां बर्हिर्धानोऽभूत्। पृथोरन्तर्धानः वेनान् पृथुः। अङ्गाद्वेनः। अङ्गस्त्वयमत्रिवंशेऽभवदित्येवमयं प्राचीनबर्हिरत्रिवंशजः। तथा चात्रिवंशे बहूत्तरकालप्रजातेन केनातिप्राचीनस्यात्रेरुत्पत्तिकथनं नावकल्पते इति। अत्रत्र मः। द्वौ दक्षौ। स्वायम्भुवमन्वन्तरीयो ब्रह्मपुत्र आद्यः। स चात्रिसमजन्मनो मरीचेरपि पूर्वजः।

अथान्यान् मानसान् पुत्रान् सदृशानात्मनोऽसृजत् ।
भृगुं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुमङ्गिरसं तथा ॥ १ ॥
मरीचिं दक्षमत्रिंच वसिष्ठं चैव मानसान् ।
नव ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः ॥ २ ॥

इति विष्णुपुराणोक्तेः,,

---

*—अत्रिः
१ अङ्गः
२ वेनः सुनीथायाम् भयायां वा
३ पृथुः
४ अन्तर्धानः
५ वहिर्धानः शिखण्डिन्याम्
६ प्राचीन वर्हिः धिषणायाम्
७ दशप्रचेतसः सवर्णायाम्
८ दक्षः मारिषायाम्

अंगुष्ठात् ससृजे ब्रह्मा मरीचेरपि पूर्वजम् ।
सोऽभवन् भरतश्रेष्ठ दक्षो नाम प्रजापतिः ॥ २ ॥

इति भारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मे सर्वभूतोत्पत्त्यध्यायोक्तेश्च । अन्यस्तु चाक्षुषमन्वन्तरीयः सोमांशकृतार्द्धेभ्यो दश प्रचेतोभ्यो वार्क्ष्यां मारिषायामुत्पन्नः ।

"तेजोभिरुदिताः सर्वे महर्षिसमतेजसः ।
दशः प्रचेतसः पुत्राः सन्तः पुण्यजनाः स्मृताः ॥
तेभ्यः प्राचेतसो जज्ञे दक्षो दक्षादिनाः प्रजाः ॥

इति भारतादिपर्वणि संभवपर्वोक्तेः । क इत्युभयोः समानं नामान्तरम् । तत्र पूर्वस्माद्दक्षाद्वरुण युक्तादत्रेर्जन्म स्यात । अत्रेश्च वंशे पश्चात पुनरन्यो दक्षः प्राचेतसः प्रजातः स्यादिति ना समञ्जसं भवति ।

इह हि मतत्रयं भवति । एके तावदाचक्षते—

कः प्रजापतिरुद्दिष्ट इत्यभियुक्तोक्तेः प्रजापतिवचनोऽयं कशब्दः प्रजापतिमात्रसाधारणो नैकान्ततो दक्षमेवाचष्टे बहवस्तु प्रजापतयो भवन्ति दक्षादयश्च तेषां पतिर्ब्रह्मा चेति । तत्र ब्रह्मैवेह प्रजापतिः स्यात भारतानुशासनपर्वणः पञ्चाशीतेऽध्याये सुवर्णदानधर्मे साधारणेन ब्रह्मशब्देनैव तदुल्लेखात् तथा हि तदुक्तिः संक्षिप्य दृश्यते-वशिष्ठ उवाच—

"अपि चेदं पुराधीतं श्रुतं मे ब्रह्मदर्शनम् ।
पितामहस्य यद्वृत्तं ब्रह्मणः परमात्मनः ॥ १ ॥
महादेवस्य रुद्रस्य वारुणीं बिभ्रतस्तनुम् ।
यज्ञः प्रवृत्ते तत्रा जग्मुरग्न्यादि देवताः ॥ २ ॥
तत्राग्नेर्विविशुस्तस्य शरीरं सर्व देवताः ।
एतस्मात् कारणादाहुरग्निं सर्वास्तु देवताः ॥ ३ ॥
संजुहावात्मनात्मानं स्वयमेव तदा प्रभुः ।
यज्ञं च शोभयामास बहुरूपं शिवस्तदा ॥ ४ ॥

देवीदीक्षापि तत्रासीद् यज्ञे रुद्रस्य वारुणे ।
स्वयंभुवस्तु तां दृष्ट्वा रेतः समपतद् भुवि ॥ ५ ॥
तस्य शुक्रस्य विस्पन्दात् पाँशून् संगृह्य भूमितः ।
प्रास्यत् पूषा कराभ्यां वै तस्मिन्नेव हुताशने ॥ ६ ॥
ततस्तस्मिन् संप्रवृत्ते सत्रे ज्वलित पावके ।
ब्रह्मणा जुह्वतस्तत्र प्रादुर्भावो बभूव ह ॥ ७ ॥
शुक्रे हुतेऽग्नौ तस्मितु प्रादुरासंस्त्रयस्तदा ।
पुरुषा वपुषा युक्ताः स्वैः स्वैः प्रसवजैर्गुणैः ॥ ८ ॥
भृगित्येव भृगुः पूर्वमङ्गारेभ्योऽङ्गिराभवत् ।
अत्रवात्रेति च तमो जातमत्रिं वदन्त्यपि ॥ ९ ॥
सहज्वालाभिरुत्पन्नो भृगुस्तस्माद् भृगुः स्मृतः ।
अङ्गारसंश्रया चैव कविरित्यपरोऽभवत् ॥ १० ॥
अङ्गारेभ्योऽङ्गिराजातो वालखिल्या कुशोच्चयात् ।
मरिचिभ्यो मरीचिस्तु मारीचः कश्यपोऽभवत् ॥ ११ ॥
ततो ब्रवीन्महादेवो वरुणः पवनात्मकः ।
ममं सत्रमिदं तस्मात् त्रीण्यपत्यानि सन्तिमे ॥ १२ ॥
अग्निरूचे ममांगेभ्यस्तान्यभूवन्ममाश्रयात् ।
तमैव तान्यपत्यानि वरुणो ह्यवशात्मकः ॥ १३ ॥
अथाब्रवील्लोकगुरुर्ब्रह्मा लोकपितामहः ।
ममैव तान्यपत्यानि मम शुक्रं हुतं हि तत् ॥ १४ ॥
अहं कर्ताहि सत्रस्य होता शुक्रस्य चाप्यहम् ।
यस्य बीजं फलं तस्य मच्छुक्रजमिदं मम ॥ १५ ॥
ततो ब्रुवन् देवगणाः पितामह मुपेत्यते ।
तवैव प्रसवाः सर्वे वरुणोऽग्निः परे च ये ॥ १६ ॥

भृगुं पूर्वमपत्यंतु जग्राह वरुणः शिवः ।
ततः स वरुणाख्यातो भृगुः प्रसवकर्मकृत् ॥ १७ ॥
ईश्वरोऽङ्गिरसं त्वग्नेरपत्यार्थमकल्पयत् ।
आग्नेयाश्चाङ्गिरास्तस्मात् कविर्ब्राह्मो महायशाः ॥ १८ ॥
एते हि प्रसवा सर्वे प्रजानां पतयस्त्रयः ।
सर्वं सन्तानमेतेषामिदमित्युपधारय" ॥ १९ ॥

( भा० अनु० ८५ अ० )

एतच्च वासिष्ठं विज्ञानं शौनकसमानार्थं नेयम। तदस्मादत्रिजन्मनि नास्ति दक्षस्य सम्बन्धः । वायुमयस्य हिरण्यगर्भस्य वा, विराजोऽग्नेर्वा, वैराजस्य मनोर्वा सम्बन्धस्य तत्रेष्यमाणत्वात्। तस्माददोषः ॥ १ ॥

( २१ ) अथवा येषां मते दक्ष एवायं को नाम । तेषामपि नास्त्ययं दोषः ।

ननु प्राचेतस्य दक्षस्याप्यत्रिवदेवात्रिसमकालं हिरण्यगर्भपौत्राद्वैराजात् स्वयम्भूमनोरुत्पत्तिर्मनुस्मृतावुच्यते ।

"मरिचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्राचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च" ॥ इति ॥

तस्मान्नात्रिवंशे पश्चादुत्पन्नः प्राचेतसो दक्ष इति ,चेन्न । प्रचेतोजनितस्यापि दक्षस्य मनुजन्यत्वाविशेषाभिप्रायेण तथोक्तेः । ब्रह्मपुत्रदक्षस्य प्राचेतसदक्षस्य च स्वरूपादिसाधर्म्यानुबोधनाय वा तथोक्तेः ।

( २२ ) अथवा पौराणिकैरेवात्र समाहितम् । यथा ब्राह्मे प्रथमाध्याये—

"मारिषानाम कन्यैषा वृक्षाणामिति निर्मिता ।
भार्य्या वोऽस्तु महाभागाः सोमवंशविवर्धिनी ॥ १ ॥
युष्माकं तेजसोऽर्धेन मम चार्धेन तेजसा ।
अस्यामुत्पत्स्यते विद्वान् दक्षो नाम प्रजापतिः ॥ २ ॥

इत्थं सोमस्य वचनाज्जगृहुस्ते प्रचेतसः ।
संहृत्य कोपं वृक्षेभ्यः पत्नीं धर्मेण मारिषाम् ॥ ३ ॥
दशभ्यस्तु प्रचेतोभ्यो मारिषायां प्रजापतिः ।
दक्षो जज्ञे महातेजाः सोमस्यांशेन भो द्विजाः ॥ ४ ॥

इत्थं दक्षस्य प्राचेतसत्वे निरूपिते मुनयः पृच्छन्ति—

संभवस्तु श्रुतोऽस्माभिर्दक्षस्य च महात्मनः ।
अङ्गुष्ठाद् ब्रह्मणो जज्ञे दक्षः किल शुभव्रतः ॥ ५ ॥
कथं प्राचेतसत्वं स पुनर्लेभे महातपाः ।
दौहित्रश्चैव सोमस्य कथं श्वशुरतां गतः ॥ ६ ॥

इत्थं प्रश्ने समावृत्ते—

उत्पत्तिश्च निरोधश्च नित्यं भूतेषु भो द्विजाः ।
ऋषयोऽत्र न मुह्यन्ति विद्यावन्तश्च ये जनाः ॥ ७ ॥
युगे युगे भवन्त्येते पुनर्दक्षादयो नृपाः ।
पुनश्चैव निरुध्यन्ते विद्वांस्तत्र न मुह्यति ॥ ८ ॥
ज्यैष्ठ्यं कानिष्ठ्यमप्येषां पूर्वं नासीद्द्विजोत्तमाः ।
तप एव गरीयोऽभूत् प्रभावश्चैव कारणम् ॥ ९ ॥ इति ॥

तथा चैतेषां दक्षादीनां युगभेदेन नानात्वविवक्षणादस्य दक्षस्य सोमदौहित्रत्वं श्वशुरत्वं वा सर्वमेवोपपद्यते—इत्यविरोधः ॥

वयं तु ब्रूमः । पुराणाख्यानेष्वाख्यातानां चरित्रनायकानां त्रिविधः सृष्टिकल्पो विवक्ष्यते तात्विकसृष्टिकल्पः, आध्यात्मिकसृष्टिकल्पः, मानुषसृष्टिकल्पश्च । तत्र तात्विकाध्यात्मिककल्पयो-पदार्थविद्यायां नैतदेवं व्यामोहनं कार्य्यम् । पदार्थानां क्वचित्पुत्रपौत्रादिभ्योऽपि पितृपितामहादीनामुत्पत्तेर्दृश्यमानत्वात् "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी" इत्येवं तैत्तिरीयश्रुतावग्नेरपां

जन्मोच्यते। "कंस्विद्गर्भं प्रथमं दध्रआपः" इति प्रश्नश्रुतौ त्वग्निमपां गर्भजमाहुः। अग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवीत्यग्नेः पौत्रीं पृथिवीमाहुः।

"यदपां शर आसीत् तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्।
तस्यामश्राम्यत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निवर्ततताग्निः" ॥

इति वाजिश्रुतौ त्वद्भ्यः पृथिवी ततोऽग्निरित्यग्नेः पृथ्वीपुत्रत्वमाहुः।

"अग्ने नक्षत्रमजरमासूर्यं रोहयो दिवि। दधज्ज्योतिर्जनेभ्यः"

इतिमन्त्रश्रुतौ सूर्य्यस्याग्नि जन्मत्वमुच्यते।

"अयं ते योनिरृत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्द्धया रयिम्" ॥

इति मन्त्रश्रुतौ त्वग्नेः सूर्यजन्यत्वमाख्यायते एवमन्यात्रान्यत्रेदमुभयं संभवति। यथा तन्तुभ्यः पट उद्भाव्यते तथा पटादपि तन्तव उद्भाव्यन्ते। यथाऽग्नेरयं दग्धोऽङ्गारो जायते तथा दग्धाङ्गारादप्यग्निर्जायते, एवं यथा संभवं लोके द्रष्टव्यम्। श्रूयते चायमर्थो वाजिश्रुतौ—

"स एव पिता पुत्रः। यदेषोऽग्निमसृजत, तेनैपोऽग्नेः पिता। यदेतमग्निः समदधात् तेनैतस्याग्निः पिता। यदेष देवानसृजत, तेनैष देवानां पिता। यदेतं देवाः समदधुः, तेनैतस्य देवाः पितरः। उभयं हैतद्, भवति पिता च पुत्रश्च। प्रजापतिश्चाग्निश्च-अग्निश्च प्रजापतिश्च। प्रजापतिश्च देवाश्च, देवाश्च प्रजापतिश्च" इति। ( शत० ६।१।२ )

एवमेवात्र वागदक्षवरुणवाय्वग्नियोगात् पाञ्चजन्योऽयमत्रिरुत्पद्यते। अत्रिवंशजप्राचीनबर्हिषः प्रसूतेभ्यो दशप्रचेतोभ्यो योगादपरो दक्षश्चोत्पद्यते।

अथ प्राणघनो यो वायुशरीरो हिरण्यगर्भो ब्रह्मा। तदुत्पन्नाद्वागादिभूतमयशरीराद् विराजो यः स्वयंभूमनुरुत्पद्यते ततोऽप्येतावत्रिदक्षौ संभवत इति ब्रह्मजन्यत्वमपि नैनयोरपलपितव्यम्। तत्र हिरण्यगर्भप्रजापतेर्वा दक्षप्रजापते-

र्वाऽयमत्रिरुत्पद्यताम् । उभयविधस्यापि तस्य पारदर्शकत्वप्रतिबन्धकत्वं सूर्य्यादि-तैजसकिरणप्रत्यावर्तकत्वं च समानो धर्म्मः । एवं ब्रह्माङ्गुष्ठजन्मा वा प्राचेतसो वाऽयं दक्षः स्यात् । उभयविधस्यापि तस्यादित्या पष्टिविधप्राणविशेषजनकत्वं क्रतुसहचारित्वं च समानो धर्म्मः । तत्रादिति प्रभृतीनां स्वरूपनिरूपणं ब्रह्म-विज्ञानस्य रजोवादे वैशद्ये न द्रष्टव्यम् । क्रतुदक्षयोस्तु स्वरूपं वाजिश्रुतौ श्रूयते—

क्रतू दक्षौ ह वा अस्य मित्रावरुणौ । एतन्न्वध्यात्मम् । स यदेव मनसा कामयते-इदं मे· स्यादिदं कुर्वीयेति-स एव क्रतुः । अथ यदस्मै तत् समृध्यते स दक्षः । मित्र एव क्रतुः वरुणो दक्षः" इत्यादि

( शत० ४-कां० ४ ब्रा० )

अध्यात्ममेवेदंरूपम् । अधिदैवतरूपं रजोवादे व्याख्यातम् ॥ यत्तु दक्षस्य ब्रह्माङ्गुष्ठप्रदेशादुत्पन्नो नत्वयं प्राणविधो दक्ष इति कश्चित् प्रतीयात् स प्रति-वक्तव्यः । ऐतरेयोपनिषद्यद्भ्यः संभृतः कश्चिदाद्यो महापुरुष आम्नायते । सोयं सर्वजगद्व्यापीश्वरः प्रतीपद्यते ।

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥ ३।२।

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्चतत्सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैवनिहितं गुहायाम् ॥ (३मु·१ख७)

यस्मिन् द्यौः पृथिवीचान्तरिक्षमोतंमनः सहप्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैषसेतुः ॥

( मुण्डके ३।२ )

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्योदिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुःप्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथ्वीह्येष सर्वभूतात्मरात्मा ॥

( मुण्डके २।४ )

तस्माद्‌ग्निः समिधोयस्यसूर्य्यः सोमात् पर्जन्यः ओषधयः पृथिव्याम् ।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् संप्रसूताः ॥२।५।
तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च ।
संवत्सरं च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्रपवते यत्र सूर्य्यः ॥ २।६।
तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसुताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि ।
प्रणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्य्यं विधिश्च ॥२।७।
सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्तहोमाः ।
सप्त इमे लोका येषुचरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥२।८।
अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्पन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥२।६।
पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद् यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥२।१०।
"तस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित् तस्मान्नाणीयो न ज्यायोस्ति किञ्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" ॥
श्वेता० नारायणो० इति श्रुतेः ॥

एष हि सर्वेषां जन्मदाता प्राणघनः । स एवाग्निमयत्वाद् विराडुच्यते विष्णुश्च । स एव वायुमयत्वाद्धिरण्यगर्भ उच्यते ब्रह्मा च । स एवेन्द्रमयत्वात् सर्वज्ञ उच्यते शिवश्च । त्रयो देवा एका मूर्तिः । स वायुना सर्वं जगत् सृजति, अग्निना सर्वं जगत् परिरक्षति । ज्ञानोत्पत्तौ हृदयग्रन्थिमोक्षणात् सर्वं जगदुपसंहरतीति पौराणिकी मर्य्यादा। उत्तरादिग्गतस्य शिरः प्रान्तोद् क्षिणादिक् पादप्रान्तः । पूर्वा दिग् दक्षिणः करप्रान्तः । पश्चिमादिगुत्तरः करप्रान्तः, इत्येके । पूर्वा शिरः पश्चिमा पादः । दक्षिणा दक्षिणकरः । उत्तरा वामकर इत्येके । प्रधानाङ्गुली वाचिनाङ्गुष्ठशब्देन करप्रान्तरूपो दिग्विशेषोऽभिप्रेयते । तत्र दक्षिणाद् दक्षस्योत्तरात्तु दक्षपत्न्या जन्मेत्येवान्यत्रापि ब्रह्मशरीरभागादुत्पन्ने-ष्वर्थेषु पौराणिकी परीभाषा द्रष्टव्या ॥

( २३ ) अत्र्युत्पत्तिप्रसङ्गे नेयं दृत्तोत्पत्तिरिहाख्याता संप्रति प्रकृतिमनुसरामः ॥ अयमेवादिपुरुषस्त्रिविधोऽवधीयते मनोमयः प्राणमयो वाङ्मयश्च । इत एव पुरुषात् सर्वमिदमुत्पद्यते । तत्रोत्पत्तौ मनोमयो निमित्तकारणम् । प्राणमयोऽसमवायिकारणम् वाङ्मयस्तु समवायिकारणं भवति ॥ वाक् चेयं द्विविधा भवति । अमृता मर्त्या च । अमृतातः सर्वे देवाः, मर्त्यातस्तु सर्वाणि भूतान्युत्पद्यन्ते । तत्र पञ्चभूतानामादिभूताकाशपदप्रसिद्धायां वाच्येव दक्षवरुणाद्यमृतयोगाद्यमत्रिरुत्पद्यते इति बोध्यम् ॥

( २४ ) अथोत्पन्नोऽयमत्रिर्यत्र यत्र वस्तुन्यारम्भकविधयोपादीयते तद्वस्तु पारदर्शकत्वाद्विहीयते तत्रायं सूर्य्यरश्मिः प्रत्याहतो भूत्वा तद्वस्तुनो रूपं जनयति तदेवरूपि द्रव्यम् चक्षुषा दृश्यते । यथा तैजसमाप्यं पार्थिवं च । काचादिपार्थिवेऽयमत्रिप्राणोऽत्यल्पमात्र उपादीयते इत्यतस्तत्र सूर्यादितेजोरश्मिः किञ्चिदेव प्रत्याहन्यतेऽधिकमात्रया तु स पारं गच्छति । वाय्वाद्यरूपिद्रव्येष्वयमत्रिर्नारम्भकद्रव्यमत एव तेभ्यः सूर्य्यरश्मेरप्रत्याघाताद् रूपं नोत्पद्यते सूर्य्य चन्द्र पृथिव्यादीनि तु यावन्ति घनद्रव्याणि तेष्वयमत्रिः प्राणोऽधिकमात्रया संनिविशते॥

( २५ ) तत एवात्रेः सोमोत्पत्तिर्भवति तथा हि प्रतिसंवत्सरकालमियं पृथ्वी सहस्रांशुं सूर्य्यं परितः परिक्रामति । तत्र सूर्य्यांशुपरितप्तात् पृथ्वीपिण्डात् प्रतिपलमुद्भवन्नयमत्रिप्राणः पृथ्वीमनुपरिप्लवते । तेनायमत्रिप्राणः संवत्सर सहस्रांशुभ्यः संयोगात प्रत्यावृत्ति परितप्यते । परिक्रमणावृत्तित्रयेण तु त्रिः संवत्सरसहस्रांशुपरितापादस्यात्रिप्राणस्य शरीरं सोमत्वमापद्यते । स सोमभागः परितप्यमानस्यात्रेर्नेत्रतः परिस्रवते । नेत्रशब्दो रश्मिपरः । यावदयमत्रेस्तनुभागः सोमरूपेण परिणमते तावानूर्ध्वरेता इतोऽत्रेः पृथग्भूय सर्वतो दिक्षु व्याप्नुवन् पृथ्वीमन्वेव पुनः संपतति । पृथ्वीमनुसंपतन्तमेवैतं सोमराशिं हिरण्यगर्भो ब्रह्मा वायुरूपेण चन्द्रकक्षा धरातले निगृह्यैकविंशतिकृत्वः परिक्रमणोत्तरं क्रमेणैतं सोमराशिं सर्वतः संचिन्वन्नेकं सूर्य्यवत् सहस्रांशुमयं सोमपिण्डं संपादयतिस्म । स एवायं चन्द्रः पृथ्वीं परितः परिक्रममाणो दिवि दृश्यते । यथाऽहनि तोयराशिः सूर्य्यांशुपरितप्त ऊर्ध्वरेताः सन् पृथिव्या उत्क्रम्य दिक्षु व्याप्नुवन् रात्रौ पुनः पृथिव्यामेव संपतितुमारेभे । किन्तु स पृथ्वीमिमां परितश्चन्द्रकक्षोपलक्षितव्योम्नि हिरण्यगर्भेणोद्भाविते वायुचक्रमये धरातले

प्रत्यवरुद्धो नाधस्तात् पृथ्वीतलेऽवतरतिस्म । तत्रैव संचीयमानः स एकविंशति-परिक्रमणावच्छिन्नेन कालेन पिण्डात्मना परिणतो भूत्वा पृथ्वीं परित एवाद्यापि तेन वायुना प्राणोदितः परिक्रमते । यथाऽऽकाशविकीर्णांशुः केतुरयं क्रमेण पिण्डो भूत्वा सूर्य्यो भवति । एवमेव वीकीर्णाः सोमांशवः क्रमेण संहृत्य चन्द्रपिण्डतामगच्छन् । इति चन्द्रमण्डलोत्पत्तिरहस्यं ब्रह्माण्डादिपुराणेषु पौराणिका आहुः ॥ महाभारतानुशासनपर्वणि दानधर्मेऽत्रिमहात्म्यप्रसङ्गे अत्रिणैव चन्द्रीभूयान्धकारनिवारणमुच्यते । (म० भा० अ० २६१)-(१५६ अ० ॥

( २६ ) यत्तु चन्द्रोऽयं कदाचित् सूर्य्य आसीत् । स परिदग्धशान्तोऽन्त-र्गर्भाग्निः पृथिव्यभवत् । सर्वथाग्निपरिक्षयणे सा पश्चाच्चन्द्रोऽभवदित्यर्वाचां केषांचिन्मतं ब्रह्मविज्ञानस्याहोरात्रवादे व्याख्यातम् । तन्मतान्तरं भवेदित्यूह्यम ॥

( २७ ) अस्य चन्द्रस्य यावान् सोमभागः पृथिव्यामोषधिवनस्पति प्राणि-जातेषु संक्रममाणो ह्रसति तावानेव पुनरितोऽत्रेरुद्भूतः सोमश्चन्द्रमण्डले प्रविशन् परिपूरयतीत्यद्यापि स क्रमोऽनुवर्तते । अस्य चन्द्रस्य रथश्चन्द्रकक्षाख्यो वायुमयो मार्गविशेषः सहस्रांशुप्रचयः ।

आख्यातच रथस्वरूपं पुराणेषु । यथा लैङ्गे षट्पञ्चाशदध्याये—

विथ्याश्रयाणि चरति नक्षत्राणि निशाकरः ।
त्रिचक्रोभयतोऽश्वश्च विज्ञेयस्तस्य वै रथः ॥ १ ॥
शतारैश्च त्रिभिश्चक्रैर्युक्तः शुक्लैर्हयोत्तमैः ।
दशभिस्त्वकृशैर्दिव्यैरसङ्गैस्तैर्मनोजवैः ॥२ ॥
रथेनानेन देवैश्च पितृभिश्चैव गच्छति ।
सोमो ह्यम्बुमयैर्गोभिः शुक्लैः शुक्लगभस्तिमान् ॥ ३ ॥
क्रमतेः शुक्लपक्षादौ भास्करात् परमास्थितः ।
देवैः पीतं क्षये सोममाप्याययति नित्यशः ॥ ४ ॥
पीतं पञ्चदशाहं तु रश्मिनैकेन भास्करः ।
आपूरयन् सुषुम्णेन भागं भागमनुक्रमात् ॥ ५ ॥

इत्येषा सूर्यवीर्येण चन्द्रस्याप्यायिता तनुः ।
स पौर्णमास्यां दृश्येत शुक्लः संपूर्णमण्डलः ॥ ६ ॥ इति ॥

आदिनाडी मध्यनाडी अन्त्यनाडीत्येवं नक्षत्राणां नाडीत्वेनाभिप्रेतानां चन्द्रकक्षावलम्बभूतानां त्रित्वाचान्द्ररथस्य त्रिचक्रतेहाभिप्रेयते इत्येके । आकाशेऽत्युच्चैर्मार्गेण मध्यमार्गेणातिनीचैर्मार्गेण चायं परिभ्रमतीति त्रिचक्रश्चन्द्रकक्षाख्यो रथ इहाभिप्रेत इतिपरे ॥ सोमरसं पातुं सूर्य्यस्थास्त्रयस्त्रिंशत सोमपायिनो देवाश्चन्द्रकक्षायां संक्रमन्ते इति चन्द्रचक्रे विध्यान्नवनवतिरश्मयः संपद्यन्ते इत्यत शतारं चक्रमुच्यते ॥ अहोरात्रवृत्तान्यश्वा उच्यन्ते । पञ्चदक्षिणतः पञ्चोत्तरतश्च नाडीवृत्ताच्चान्द्राहोरात्रवृत्तानीत्यतो दशाश्वो रथः कल्प्यते ॥

तत्रैकविंशतिकृत्वः पृथ्वीपरिक्रमणोत्तरमस्माच्चन्द्रात कियांश्चित् सोमभागश्चन्द्रान् पृथग्भूय पृथिव्यामोषध्यादिषु संभूय तत्तदर्थोपादानां भवतीत्यप्याहुः ॥

( २८ ) तदित्थमाकाशचारिचन्द्रोत्पत्तिमूलभूतो योऽत्रिप्राणस्तस्य यः प्रथमो द्रष्टाऽसीत तमेव विद्वांसमत्रिनाम्ना व्यपदिशन्ति । अत्रिप्राणपरिद्रष्टृत्वादत्रिमहर्षिनाम्ना प्रसिद्धस्यास्य विदुस्तथाविधयशोनामव्यवहारबाहुल्यादव्यवहृतविस्मृतंयदृच्छानाम न क्वापि स्मर्य्यते ॥

( २६ ) एतस्यात्रेः पुत्रपरम्पराप्येतेनात्रिशब्देन व्यपदिश्यते । अत्रिप्राणमय ब्रह्मवंशधरत्वादत्रिप्राणमयत्वात् । एवमस्यात्रेः शिष्यपरम्परा चात्रेयब्रह्मपरिषदधिष्ठात्री तेनैवात्रिशब्देन व्यपदिश्यते । अत्रिप्राणोपासकत्वादत्रिप्राणाराधनपरीक्षादिप्रयोगप्रधानवृत्तित्वात ।तेनायमत्रिशब्दः कुलपरम्परावत्वाज्जातिशब्दः संपद्यते । अत एव जातेरस्त्रीविषयादिति सूत्रे गोत्रं च चरणैः सहेति वैयाकरणाः स्मरन्ति । ततोऽनन्ता अत्रयः काले काले भिन्ना भिन्नाः पुराणेतिहासादिषु प्रसिध्यन्ति । तत्र पुरा देवयुगे तावदात्रेयब्रह्मपरिषदि द्वावत्री पर्य्यायेण लोकशास्तृब्रह्मासनमध्यतिष्ठताम् । भौमोऽत्रिः सांख्यात्रिश्च । आदौ तावद् भूमिष्ठेनेयात्रिप्राणं ददर्शेति कृत्वा स भौमोऽत्रिः प्रथमः । स ऋग्वेदस्य पञ्चममण्डलद्रष्टा महर्षिस्तत्र मन्त्रत्रिंशादीन् कतिपयसूक्तमन्त्रानपश्यत् । एष एव हि भौमोऽत्रिश्चन्द्रस्य पिताऽऽसीत ।

( ३० ) अथ यः पश्चादाकाशे उत्तरध्रुवसंनिहिते सप्तर्षिमण्डले तुरीयतारकासयमत्रिमपश्यत् स द्वितीयः सांख्योऽत्रिः । सा तारका बृहत्संहितायामप्युच्यते—

"पूर्वे भागे भगवान्मरीचिरपरे स्थितो वसिष्ठोऽस्मात् ।
तस्याङ्गिरास्ततोऽत्रिस्तस्यासन्नः पुलस्त्यश्च ।
पुलहः क्रतुरिति भगवानासन्नानुक्रमेण पूर्वाद्याः ॥ इति ॥

अत्रिप्राणमयह्येतमृत्तिनित्यतोऽत्रिरित्युच्यते । स एष आधिदैविकोऽत्रिः ।

( ३१ ) एवमध्यात्ममप्यत्रिप्राणो विनियुज्यते । तथा हि—ऐतरेयब्राह्मणस्य द्वाविंशाध्यायत्रिंशाध्यायोक्तप्रकरणानुसारेणाध्यात्मं चत्वारः सहचराः प्राणाः प्रधान्येनोत्पद्यन्ते नाभानेदिष्ठो वालखिल्या वृषाकपिरेवयामरुच्चेति । स्त्रीयोनौ तावत् पौरुषरेतो येन सिच्यते स रेतोमयो नाभानेदिष्ठः । तद्रेतो वालखिल्याभिः प्राणैर्विक्रियते । शिरोग्रीवाहस्तवक्षोजठरकटपादाद्यङ्गप्रत्यङ्गनिर्म्माणाय विभक्तं क्रियते । अथ वृषाकपिरात्मानं कल्पयति । लोमानि त्वङ् मांसमस्थिमज्जा चेति पञ्चधा विहितं करोति । ततोऽस्मिन्नेवयामरुत् काठिन्यं संपाद्य प्रतिष्ठामादधाति । यावत् प्रतिष्ठां न लभते तावत् पराश्रयेणैव तिष्ठतीति गर्भाशयं न त्यजति । अथ प्रतिष्ठां लभमानोऽयमात्मनाऽऽत्मानं धारयितुं समर्थो भूत्वा गर्भाशयाद्बहिर्भवितुं प्रयतते । "एवयामरुत्तेतवै करोति, तेनेदं सर्वमेतवैकृतमेति यदिदं किञ्च" इत्यैतरेयश्रुतेः । तथा च रेतः प्राणा आत्मा प्रतिष्ठेति चत्वारोऽर्थाः शरीरारम्भाय भवन्तीति सिद्धम् । तत्र नाभानेदिष्ठं रेतः सोमः वालखिल्याः प्राणा वायुः । वृषाकपिरात्मा विष्णुः । एवमेव या मरुत्प्रतिष्ठा साऽत्रिः । पञ्चममण्डलस्थ सप्ताशीतितमसूक्तस्यैवयामरुत्प्राण निरूपकस्य द्रष्टुरेवयामरुतो महर्षेरात्रेयत्वेन स्मर्य्यमाणतया तत्साम्येन प्राणस्याप्येवयामरुत आत्रेयत्वेनैवाभ्युपगन्तव्यत्वात् । प्राणव्यवस्थानुसारेणैव दैवे युगे प्राणिनां विदुषां व्यवस्थाया ब्रह्मणा कृतत्वात् ॥

( ३२ ) इत्थमध्यात्ममधिदैवतं च तत्र तत्र सर्वमत्रिं प्राणमयमन्यः सांख्योऽत्रिरपश्यत् अत एव च तत्र तत्र भूयसोऽत्रेः सांख्यानादयमपरोऽत्रिः सांख्य इत्युच्यते । सायणस्तु संख्यपुत्रत्वादेनं सांख्यमाह ब्रह्मणो मानसः पुत्रोऽयमत्रिः

संख्यनाम्नः कस्यचिदौरसः पुत्र आसीत्। तं पश्चादयं ब्रह्मा पूर्वात्रिपरिषद्ब्रह्मासने प्रतिष्ठाप्य द्वितीयमत्रिमकरोदिति विज्ञायते॥ सोऽयं सांख्योऽत्रिर्दशममण्डले त्रिचत्वारिंशशततमं ( १४३ ) सूक्तमपश्यत्। तत्र चायं पूर्वस्य भौमस्यात्रेर्निगडागारबन्धनाद्यसुरकृतपीडानिवारकत्वेनाश्विनौ देवौ स्तौति। तेनाप्ययमन्योऽत्रिरिति प्रीयते। एतयोर्भौमसांख्ययोर्द्वयोरेवात्र्योर्देवयुगकालिकत्वं संभावयन्ति। इतरेषामत्रीणां वेदमन्त्रनिर्मातृत्वेन कुत्राप्यस्मरणात्। वस्तुतस्तु वेदमन्त्रनिर्मातृत्वं द्वयोरेवात्र्योरस्तीत्येतन्मात्रं वक्तव्यं न तु देवयुगेऽन्येषामत्रीणां सत्त्वैव नास्तीत्यास्थेयम्। महाभारतयुद्धपर्य्यन्तं देवयुगप्रतिपत्तेस्ततः पूर्वमपि वेदप्रसिद्धपुरुप्रभृतिराजपितामहस्य नहुषस्य काले कस्यचिदत्रेः स्मर्य्यमाणत्वात्। तथा हि–अत्रिवंशेऽस्मिन्नत्रेः पष्ठो देवनहुषो मेरुगिरिसंनिधाने तपश्चरन्तमत्रिमाजगाम। किन्तु तमत्रिं तत्रापश्यन्नयं देवनहुषस्तस्यात्रेः स्थाने देवनहुषपुरीं निर्म्मापयामास। एतं देवनहुषमेव यवनाः "दिओन्यसिउस" (Dionysius)इत्याचक्षते॥ तां देवनहुषपुरीं च–"दिओन्यसिवोपोलिस" (Dionysiopolis) इतिवदन्तीति केचित् संभावयन्ति। नहुष एव पश्चाद्देवानां राजा भूत्वा देवनहुष इत्युच्यते स्म। अत्रेः पुत्रस्य शांखायनस्य म्लेच्छप्रायत्वायाः पौराणिकैरुक्तत्वात्। तद्वंशधरा एवैते यवनाः स्युः अत एवैषां यवनानामप्ययमत्रिः पूज्यदेवेषु परिगणित आसीदिति केचिदाहुः॥ एवमयमत्रिः पाञ्चजन्यशब्देनापि विशेषितः श्रूयते—

> "ऋषिं नरावंहसः पाञ्चजन्यमृबीसादत्रिं मुञ्चथो गणेन।
> भिन्दन्ता दस्योरशिवस्य माया अनुपूर्वं वृषणा चोदयन्ता"–
> ( १।११७।३ ) इति॥

अत्र मन्त्रे पञ्चजनानामभ्यर्हणीयत्वादेवायमत्रिः पाञ्चजन्य इत्युच्यते। ते च पञ्चजना ऋषिपित्रादिपञ्चविधप्राण्यपेक्षया तदत्रिवंशधरा एव पञ्चविधमनुष्यविभागा अधिकं संभाव्यन्ते। पञ्चानामपि तेषामात्रेयाणां श्रुत्यन्तरे स्पष्टं श्रूयमाणत्वात्॥

"यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद् द्रुह्युष्वनुषु पूरुषुस्थः ।
अतः परिवृषणा वा हि यातमथा सोमस्यपिवतं सुतस्य ॥
(ऋ० १।१०८।८) इति ॥

पञ्चाप्येते ययातिपुत्रा अत्रेरेव वंशधराः पञ्चानां चन्द्रवंशशाखानां मूलपुरुषाः सन्तीति पञ्चस्वपि तेष्वात्रेयशाखावंशेष्वयमत्रिरभ्यर्हणीयतमः संभवति । तेनायं पाञ्चजन्य इत्युच्यते । तथा चावश्यमेषां पञ्चनामपिसमये कस्यचिदत्रेः सत्ता गम्यते । न च मूलपुरुषस्यैवात्रेर्भौमस्य ययातिपुत्रकालपर्य्यन्तस्थितौ काचिद्विनिगमनास्ति । तस्मादत्रिब्रह्मपरिषदि काले कालेऽन्योऽन्योर्ऽत्रिरधिष्ठाता ब्रह्मासीदिति संभावयामः ॥

( ३२ ) अपि च भौमसांख्याभ्यामत्रिभ्यामन्ये खल्वात्रेया बहवो मन्त्रद्रष्टारः श्रूयन्ते ते यथा—

| | | |
|---|---|---|
| १–सदापृणः | १५–गविष्ठिरः | २९–पौरः |
| २–प्रतिक्षत्रः | १६–धरुणः | ३०–अर्चनानाः |
| ३–ससः | १७–सुतम्भरः | ३१–श्यावाश्वः आर्चनानसः |
| ४–वव्रिः | १८–अवस्युः | ३२–अन्धीगुः श्यावाश्विः |
| ५–प्रतिरथः | १९–गातुः | ३३–बुधः सौम्य आत्रेयः |
| ६–प्रतिभानुः | २०–रातहव्यः | ३४–विश्ववारा आत्रेयी |
| ७–बभ्रुः | २१–यजतः | ३५–अपाला आत्रेयी |
| ८–विश्वसामा | २२ उरुचक्रिः | ३६–मृक्तवाहा द्वितः |
| ९–श्रुतिवित् | २३–बाहुवृक्तिः | ३७–द्युम्नः विश्वचर्षणिः |
| १०–प्रतिप्रभः | २४–सत्यश्रवाः | ३८–वसूयवः आत्रेयाः |
| ११–गयः | २५–एवयामरुत | ३९–प्रयस्वन्तः आत्रेयाः |
| १२–इषः | २६–स्वस्ती | ४०–गौपायना लौपायना वाऽऽत्रेयाश्चत्वारः=बंधु,सुबन्धु, श्रुतबन्धु विप्रबन्धवः—इति ॥ |
| १३–वसुश्रुतः | २७–गोपनः | |
| १४–कुमारः | २८–सप्तवध्रिः | |

इत्थमेते चत्वारिंशत् । न चैते सर्वेऽप्येकस्यैवात्रेः पुत्राः समकाला वा संभाव्यन्ते । नच वैषामत्रिवंश्यत्वं विनाऽऽत्रेयत्वं संभवति । तस्माद् बहुशोऽप्यन्ये बहवोऽत्रयः कालेकाले बभूवुरिति सिद्धम् ॥

( ३४ ) अथ यथैवात्रिशिष्यवंशपरम्परायामुत्तरोत्तराः सर्वा एवात्रिपर्षदधिष्ठातृव्यक्तयोऽत्रिशब्देनैवाख्यायन्ते तथैव सर्वेषां तेषामत्रीणामेका वा दश वा यावत्यो वा भार्य्याः स्युस्ताः सर्वा अप्येकेनैवानसूयाशब्देनाख्यायन्ते। तत्र प्राणरूपस्यात्रेरनसूयाशक्तिमत्त्वं हेतुः। यत्रात्मन्ययमत्रिप्राणः प्रकृतौ विशिष्यते स पुरुषोऽनसूयावान् भवति।

"न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि।
न हसेच्चान्यदोषांश्च सानसूया प्रकीर्तिता" ॥

इत्यनसूयालक्षणंस्मरन्ति। तथा चानसूयाशक्तिमेवात्रिप्राणं सर्वेऽत्रयः पुरुषाः समाराध्नुवन्निति कृत्वा तेषामपि पत्न्योऽनसूया एवोच्यन्ते। अनसूयाशब्दोऽत्रिभार्य्यावचनोऽत्रिवदेव साधरणो न त्वयं व्यक्तिविशेषरूढो यदृच्छाशब्दः। तेन पञ्चमण्डलद्रष्टुर्भौमस्यात्रेर्दशसु भार्य्यासु भद्राख्यायामनसूयायां सोमोत्पत्तिरासीत्। ते उभे अत्र्यनसूये अन्ये भवतः। ततोऽन्ये अत्र्यनसूये काले काले स्मर्य्येते। तथा हि कदाचिदयमत्रिर्निस्प्रहवृत्तिर्धनदारिद्र्यात् परिक्लिष्टयोगक्षेमः पुत्रकलत्रादिपरिवाराणां भोजनादिक्लेशं दृष्ट्वा धनयाचनार्थं पृथोर्वैन्यस्याश्वमेधयज्ञे गन्तुमैच्छत। किन्तु याचनाकर्मणि दुःखं मन्यमानस्तपसे वनमेव गन्तुं प्रववृत्ते। ततोऽनसूयया संप्रार्थ्यमानः सोऽनिच्छन्नपि तस्या अनुरोधेन पृथोर्यज्ञवाटमाजगाम। धन्यस्त्वमसीश्वरस्त्वमसीत्यादिभिश्चाटुवाक्यैः पृथुराजं भूयसा प्रशशंस च। तच्छ्रुत्वापरिक्रुद्धो महर्षिर्गौतमस्तदानीमत्रये तस्मै पर्य्युवाद। नैवं त्वं वक्तुमर्हसि। मनुष्यः खल्वयं राजा नेश्वरत्वेनाभिप्रोतुं युज्यते। न ब्राह्मणेन सता चाटुवादः प्रोक्तव्यो न मिथ्या वक्तव्यम्। इत्येवं भूयोऽत्रिं प्रत्युपालम्भं चक्रे। ततस्तत्र सनत्कुमारो मध्यस्थो भूत्वा विवादं शमयामास।

"बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ १ ॥
यमूर्ध्वमिद्धा तिष्ठन्तं सर्वेऽधस्तादुपासते।
तत्रेश्वरांशो विज्ञेयो नेश्वरादन्य ईड्यते ॥ २ ॥

हस्तपादादिसाम्येऽपि येनांशेन स शास्तिनॄन् ।
तेनांशेनेश्वरो राजाऽभ्यर्हणीयतमो नणाम् ॥ ३ ॥"

इत्थं सनत्कुमारेणात्रिमतस्य न्यायसंगतत्वेन स्थापनात् संतुष्टो राजा पृथुस्तस्मात् अत्रये सालङ्कारं दासीसहस्रं स्वर्णदशभारान् अर्बुदमिताः स्वर्णमुद्राश्च प्रददौ । तच्च सर्वमयमत्रिः पुत्रकलत्रादिभ्यो विसृज्य निःस्पृहो भगवानत्रिर्गार्हस्थाय विरक्तः स्वयं तपसे वनमेवाजगामेति महाभारते वनपर्वान्तरर्गतमार्कण्डेयसमस्यापर्वणि स्मर्य्यते । तत्रैतस्यात्रेराङ्गिरसेन गौतमेन समकालिकत्वादङ्गिरसा समकालिकात् प्रथमादत्रेर्भेदः साधु विज्ञायते । तस्मादन्ये इमे पृथुकाले अत्र्यनसूये भवतः । अपिचायं वेदमन्त्रद्रष्टा भौमो नाम प्रथमोऽत्रिः पञ्चममण्डले सप्तविंशादिभिः कतिपयसूक्तैरिन्द्रं देवं परिष्टौति । किन्त्वयमन्यः पृथुकालिकोऽत्रिरस्मिन् पृथुयज्ञे यज्ञविघ्नकारित्वेन देवाधमत्वेन च भूयसा देवेन्द्रं परिनिन्दन्नसूयति । भागवते चतुर्थस्कन्धोनविंशाध्याये तथोक्तेः । तस्माद्देवेन्द्रं प्रत्येकस्य विरुद्धभावद्वयासंभावादन्ये इमे पृथुकाले अत्र्यनसूये इत्यवगच्छामः । पृथुरप्ययमत्रिवंशधर एवासीदित्युक्तं पाद्मभूमौ अष्टाविंशाध्याये—

"अत्रिवंशसमुत्पन्नः पूर्वमत्रिसमः प्रभुः ।
स्रष्टा सर्वस्य धर्मस्य अङ्गो नाम प्रजापतिः ॥ १ ॥
मृत्योः कन्यां स वा अङ्गः सुनीथामुपयेमिवान् ।
तस्यामुत्पादयामास वेनं धर्मप्रणाशनम् ॥ २ ॥
मातामहस्य दोषेण वेनः कालात्मजात्मजः ।
निजधर्मं परित्यज्य सोऽधर्मनिरतोऽभवत् ॥ ३ ॥
ततो महर्षयः क्रुद्धा वेनंप्रति महाबलाः ।
तस्य निग्रहणं कृत्वा ममन्थुस्तस्य विग्रहम् ॥ ४ ॥
सव्योरुमन्थनात्तस्य प्रागभूत् पापपूरुषः ।
तस्य वंशधरा एते दृश्यन्ते पापपूरुषाः ॥ ५ ॥

निषादाश्च किराताश्च भिल्ला नाहलकास्तथा ।
भ्रमराश्च पुलिन्दाश्च ये चान्ये म्लेच्छजातयः ॥ ६ ॥
गतकल्मषमेवं तं जातं वेनं ततो नृपम् ।
ममन्थुर्दक्षिणे पाणौ स्वेद एव ततोऽन्वगात् ॥ ७ ॥
पुनर्ममन्थुस्ते विप्रा दक्षिणं पाणिमेव च ।
ततोऽस्मात्पुरुषो जज्ञे शुभलक्षणलक्षितः ॥ ८ ॥
स पृथुर्नाम तं राज्ये तेऽभ्यषिञ्चन्महर्षयः ।
तस्याभिषेके विप्रेन्द्राः सर्व एव प्रतस्थिरे ॥ ९ ॥ इत्यादि ।

ननु वामनपुराणस्य सप्तचत्वारिंशेऽध्याये पृथुरयं मरिचिवंशज उच्यते नात्रिवंशजः । तथा हि—

"एकार्णवे जगत्यस्मिन्नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
विष्णोर्नाभिसमुद्भूतः सर्वलोकपितामहः ॥ १ ॥
तस्मान्मरीचिरभवन्मरीचेः कश्यपः सुतः ।
कश्यपादभवद् भास्वांस्तस्मान्मनुरजायत ॥ २ ॥
मनोस्तु क्षुवतः पुत्र उत्पन्नो मुखसंभवः ।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया राजा धर्मस्य रक्षिता ॥ ३ ॥
तस्य पत्नी बभूवाथ भयानाम भयावहा ।
मृत्योः सकाशादुत्पन्ना कालस्य दुहिता तदा ॥ ४ ॥
तस्यां समभवद् वेनो दुरात्मा वेदनिन्दकः ।
स मातामहदोषेण वेनः कालात्मजात्मजः ॥ ५ ॥"

इत्यादि पूर्ववत् ।

तथा चेदिक्ष्वाकुपुत्रोऽयं पृथोः पिता वेनो नत्वङ्गपुत्र इति चेन्न । वामनपुराण-लेखकस्य पौराणिकस्यैतस्मिन् वेनजन्मनि भ्रान्ततयोपेक्षणीयत्वात् ।

"पितृकन्या सुनीथा तु वेनमङ्गा दजीजनद्" ( ४ अ० )

इति मात्स्यवदितरसर्वपुराण महाभारतादिष्वङ्गपुत्रतयैवास्य वेनस्य सुप्रसिद्धतया बहु संवादादाङ्गिल्वेनैवपरिग्रहीतुमौचित्यात । तत्राङ्गस्यात्रिवंशोत्पन्नत्वं ब्रुवता साक्षादत्रिपुत्रत्वं निराक्रियते इति बहुत्तरकालिकत्वमस्य पृथोर्निष्कृष्यते । अतस्तत्कालिकयोरत्र्यनसूययोः प्रथमाभ्यामत्र्यनसूयाभ्यां भिन्नत्वमध्यवसीयते ॥ एवमितोऽप्यर्वाक् काले कतिपयेऽत्रयेऽनसूयाश्च स्मर्य्यन्ते । यथा रामचन्द्रवनवासकाले ऽत्र्याश्रमोपस्थितायाः सीतायाः केशसंवरणमनसूयया कृतमिति रामायणादौ ( आरण्ये २ सर्गे ) स्मर्य्यते । रामश्चात्रिप्रभृतिभिः सहितो गोदावरीतटमाजगामेति अग्निपुराणे ( ७२ ) उक्तम । तेन तत्कालेऽप्यत्र्यनुसूययोः सत्तागम्यते । न चैतयोरेकयोरेव दम्पत्योर्देवलोके दण्डकारण्ये च सत्ता संभाव्यते । देशकालयोरतिविप्रकृष्टत्वात । तस्मादन्ये अन्ये अत्र्यनुसूये काले काले यत्र तत्र बभूवतुरिति प्रतिपत्तव्यम् । अपि च तिस्रोऽनसूयाः स्मरन्ति पौराणिकाः—दक्षकन्यां कर्दमकन्यां कर्दमश्वश्रूं चेति । तथाहि—

"ख्यात्याद्या दक्षकन्यास्तु भृग्वाद्या उपयेमिरे" इति प्रतिज्ञायाग्नेये ।
"सोमं दुर्वाससं दत्तमनसूयाऽप्यजीजनद्" इति दक्षकन्यामाह ।
"याः कर्दमसुताः प्रोक्ता" इति प्रतिज्ञाय भागवते—
"अत्रेः पत्न्यनसूया त्रीन्जज्ञे सुयशसः सुतान्" इति कर्दम कन्या-

माह । अथ ब्रह्माण्डपूर्वभागैकादशाध्याये तु ततोऽन्यामेव पञ्चपत्यवतीं कर्दमश्वश्रूमनसूयामन्वाचष्टे—

"अनसूया विजज्ञे वै पञ्चात्रेयानकल्मषान् ।
कन्यां चैव श्रुतिं नाम माता शंखपदस्य सा ।
कर्दमस्य तु पत्नी सा पौलहस्य प्रजापतेः" इति ॥

पुलहपुत्रस्य कर्दमस्य पुत्रोयं शंखपदो वेनपुत्रस्यातिप्रसिद्धस्य पृथुमहाराजस्य दक्षिणादिक्पाल स्त्वासीदिति वक्ष्यते । अस्यामनसूयायामुत्पन्नाः पञ्चात्रेयास्तु-सत्यनेत्रो हव्य आपोमूर्तिः शनैश्चरः सोमश्चेत्याम्नायन्ते । तत्र सत्यनेत्रादि-

साहचर्य्यादयं पञ्चमः सोमोऽपि दुर्वासोदत्तात्रेयभ्रातृकात् सोमाद्भिद्यते इति सुनिभृतं प्रत्येतव्यम् ॥

( ३५ ) अन्यस्यामन्यस्यां चानसूयायामन्योऽन्यःपुत्रोऽत्रेरुदभवन् । तत्राऽन्यनुसूयाशब्दसामान्यादत्रिपुत्रविशेषाणामुत्पत्तिविषये बहवः खल्वैतिहासिका भ्रान्ता बभूवुः यथा विष्णु ( १।१०८ ) पुराणाद्यनुसारेण सोमदत्तदुर्वाससामनसूयागर्भजत्वे संभवत्यपि केचित्तावत् कर्दमसुनिकन्यायामनसूयायामेषां त्रयाणामुत्पत्तिमाहुः । अन्ये पुनर्भद्राश्वराजकन्यायां भद्राख्यायामनसूयायां सोमोत्पत्तिमन्यस्यां च भद्राश्वकन्यायां दत्ताद्युत्पत्तिमाहुः । तदेतदसमञ्जसं भ्रान्तं च । भद्राश्वदुहितरस्तावदिमाः कस्यात्रेः पत्न्य आसन् कस्य वाऽत्रेः कर्दममुनिकन्या भार्य्यासीदिति विशिष्य न ज्ञायते । तथापि दत्तदुर्वाससः प्रभृतयोऽत्रिपुत्रा उत्तरोत्तरकालानामत्रीणां पृथक् पृथक् पुत्राः स्युरिति संभावयामः । महाभरतयुद्धसमकालानां दुर्वासः प्रभृतीनामतिपुरातनचन्द्रसहोदरत्वाभिमानस्यानवक्लृप्तत्वात् । अथवास्तु सोमभ्रातृभ्यां दत्तदुर्वासोभ्यां भारताद्युत्तरकालिकयोर्दत्तदुर्वाससोरन्यत्वमिति सुधीभिरूह्यम् । सोमस्त्वयमाद्यस्यैवात्रेः पुत्र इति युक्तमुत्पश्यामः । सोमाय लोकपालत्वाधिकारप्रदानस्य प्रधानब्रह्माधीनतया प्रधानब्रह्मपुत्रादत्रेरेव तदुत्पत्तेरौचित्यात् ॥

( ३६ ) अथ यथा भौमस्यात्रेरयं सोमः पुत्र आसीत् तथैव सांख्यस्यात्रेः शांखायनो नाम पुत्रो बभूव । शांखायन इति यदृच्छाशब्दो नत्वपत्यप्रत्ययान्तः । अत्रेः प्रथमपुत्रत्वेन पुराणे स्मरणात् । सोऽयमतिसुन्दरो बलिष्ठोऽप्युग्रस्वभावोऽत्यन्तमधार्मिकश्चासीत् । स गिरिगह्वरेषु निवसन्नभक्ष्यमपि मांसं भक्षयति स्म । तद् भ्रातापि तथैवासभ्योभूत्वा वने वने विचरतिस्म । तयोस्तथाचरणात् परिक्रुद्धोऽयमत्रिः परिभर्त्सयंस्ताभ्यामाचारविचाराद्यर्थं बहूपदिदेश । यत्र तत्र वने विचरतोस्तयोर्निवासार्थमनेकस्थानान्यत्रिनाम्नैव कल्पयित्वा स्वयं सोऽत्रिः सिन्धुदेशे देवनिकायगिरौ गत्वा तत्रैव न्युवास । शांखायनतद्भ्रात्रोर्वंशधरा यवना बभूवुरिति केचिदाहुः ॥

( ३७ ) अन्यस्यात्रेः पुत्राणां म्लेच्छप्रायत्वेऽप्याद्यस्यात्रेः पुत्रस्य सोमस्यायं प्रकाशमयः पवित्रो वंश आदेवयुगादिदानीं यावदविच्छिन्नः प्रवर्तमानो ब्रह्मणा प्रवर्तितं वैदिकमेव धर्म्मं परिपालयन्नद्यापि दृश्यते । सोऽयं पवित्रो वंश आख्यायते ॥

सोऽयमैतिहासिको वैज्ञानिकश्च द्विविधोऽपि अत्रिर्व्याख्यातः ॥

॥ इति अत्रिः ॥



# कौशिको विश्वामित्रः

(१) "यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी" इति मन्त्रश्रवणात्। "इन्द्र इति ह्येतमाचक्षते–य एष तपति" (शत.४।५प्र.।६ब्रा.।११) इति ब्राह्मणश्रवणाच्च सूर्य्यगतं प्राणमिन्द्र इत्याचक्षते। सूर्य्याद् विनिःसृता चैन्द्री वाक् परितः साहस्रं नाम मण्डलं तनुते। "एतद्वै सहस्रं वाचः प्रजातं यदेष त्रयो वेदः" (शत० ५।४ प्र०। ७ ब्रा०। १२ क०) इति श्रुतेः। साहस्रस्य विभक्तयोऽहानीत्याख्यायन्ते। तत्रैतत्साहस्रं तावत् त्रेधाविभज्यते–महोक्थं, महाव्रतं पुरुषश्चेति। नान्यस्मिन् सूर्य्ये ऋक् साम यजूंषि प्रतिपद्यन्ते। उत्तरोत्तरं ह्रस्वीभवन्तीनां परितः प्रथितानामनन्तमूर्तीनां समुद्रो महोक्थम् तदप्येकैकमर्कराशितीरादत्ते। अथ परितो दिग्भ्योऽभिनाभि समायान्तं सोममयमन्नमश्नन्नाप्यायितः प्रतप्यमानोऽग्निसमुद्रो महाव्रतम्। यस्त्वग्निसमुद्रो देवानां भूतानां च सृष्ट्यै सर्वजगदर्थोपादानरूपेणोपयुज्यते स पुरुषो नाम। इत्थमिमानि त्रीण्यहानि त्रयः समुद्रा अन्योन्यसमदेशा अन्योन्यतोऽसंसक्तास्त्रीणि साहस्राणि जनयन्ति। तेषु यदिदं महाव्रतमहस्तेन रूपेण विश्वतोऽभिव्याप्तो विश्वतश्चान्नं सोममयमश्नन् प्रतपत्ययं त्रयीमयः सूर्य्यप्राणः। तमेतमिन्द्रप्राणं महाव्रतेनाह्नोपलक्षितं विश्वामित्र इत्याहुः। तथा चैतरेयारण्यके श्रूयते। "विश्वामित्रं ह्येतदहः शंसिष्यन्तमिन्द्र उपनिषसाद। महान्नमित्यभिव्याहृत्य त्रिबृहतीसहस्रं शशंस। तमिन्द्र उवाच–ऋषे! प्रियं वै मे धामोपागाः। वरं ते ददानीति। स होवाच–त्वामेव जानीयामिति। तमिन्द्र उवाच–प्राणो वा अहमस्मि ऋषे, प्राणस्त्वं, प्राणः सर्वाणि भूतानि। प्राणो ह्येष य एष तपति स एतेन रूपेण सर्वा दिशो विष्टोऽस्मि तस्य मेऽन्नं मित्रं दक्षिणं तद्वैश्वामित्रम्। एष तपन्नेवास्मीति होवाच" (आ० २ अ० २ खं० ३) इति। छन्दानुवृत्तिसंवर्द्धनं च दक्षि-

णम् । तदन्नं प्राणस्य विश्वाविष्टस्य मित्रं संलग्नं भवतीति वैश्वामित्रं नाम । तद्विशिष्टोऽयं महाव्रताहरात्मकः सौरः प्राणो विश्वामित्रः । प्राणस्येत्थं विश्वामित्रत्वाख्याने । "वाग् वै विश्वामित्रः" इत्येवं वाचो विश्वामित्रत्वं श्रावयन्त्याः कौषीतकि श्रुतेस्तु ( १५।१ ) विरोधो नाशङ्क्यः । "तद्वा एतत् सहस्रं वाचः प्रजापतं द्वे इन्द्रस्तृतीये, तृतीयं विष्णुः ऋचश्च सामानि चेन्द्रो यजूंषि विष्णुः" ( शत. ४।५ प्रा.६ ब्रा.।३ कं ) इति श्रुत्या वागात्मकसाहस्रविभक्तेरह्नो वागरूपत्वात । "उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः । इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयथाम्" ( ऋ. ६।६।६।८ ) इति मन्त्रव्याख्यायामैतरेयब्राह्मणे अष्टाविंशेऽध्याये । "किं तत् सहस्रमिति । इमे लोकाः इमे वेदा,ः अथो वागिति ब्रूयाद्" इति श्रुत्या च वाच एव सहस्रतयातद्विभक्तिरूपस्याह्नोऽपि तदनतिरिक्तत्वात् । स इत्थमयमधिदैवतं व्याख्यातः । एवमेवायमध्यात्मं द्रष्टव्यः । "तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्" तदुक्तमृषिणा "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेति इत्यैतरेयारण्यकश्रुते; सूर्यरसादुद्भूयमान एवायमध्यात्मं विज्ञानमयः क्षेत्रज्ञ आत्मा । सोऽपि बहिर्वत् त्रयाणां समुद्राणामन्तः शेते इत्यस्मादिन्द्राद् विश्वतः प्रथितोऽयमन्तःस्थो महाव्रताहरात्मकोऽन्नमश्नन प्राणो विश्वामित्रः ।

( २ ) स एष प्राणो बृहत्यात्मको द्रष्टव्यः । "वाग् वा अनुष्टुप् प्राणो बृहतीति श्रुतेः । "सर्वं हीदं प्राणेनावृतम् । सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः तद्यथायमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः एवं सर्वाणि भूतान्यापिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्" ( आ. २।१।६ ) इत्यैतरेयश्रुतेश्च,) षट् त्रिंशदक्षरत्वाच्चैतस्य बृहतीत्वमद्धोपपद्यते एकैकं चेदमक्षरं दशिनी विराट् । तेन षट्त्रिंशतत्रयमक्षराणां लभ्यते । एतावन्ति च संवत्सरस्याह्नानि ततः संवत्सरादुपेतत्वात् तावद्विभागोऽऽयं प्राणो न आत्मा संवत्सरात्मकस्याप्यस्य बृहतीत्वमक्षराणां विराट्त्वापेक्षाय द्रष्टव्यम । अपि चायं प्राणः शरीरे दशधा भवति । "अयं वै प्राणो योऽयं पवते । यो वै

प्राणः स आयुः । सोऽयमेक इवैव पवते । सोऽयं पुरुषेऽन्तःप्रविष्टो दशधा विहितः" ( ४।७।३।१० ) इति वाजिश्रुतेः । बृहतीत्वात् षट्त्रिंशदक्षरो ऽयमिन्द्रः प्राणो विराजोपसंपद्यमानो दशधा विहितःसन् षट्त्रिंशतत्रयात्मको लक्ष्यते । स पुनर्दशधाकृतो यदि भूयो दशधा क्रियते तर्हि स षट्त्रिंशत्-सहस्रात्मकः संपद्यते । न हि तत्सहस्रं दशत्वादतिरिच्यते । "तदेतत् सहस्रं तत् सर्वम् । तानि दश । दशेति वै सर्वम् । एतावती हि संख्या दशदशतस्तच्छतम् । दशशतानि तत् सहस्रम्, तत् सर्वम्" । ( ऐ. आ. २।३।४ ) इति श्रुतेः । स एष बृहतीसहस्रात्मकः प्राणण आत्मा । तस्यारम्भकाणामेषां सर्वेषामक्षराणां शरीरादुत्थाय परज्योतिष्युपसंपत्तौ स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्तावयमात्मा त्यक्तशरीरः सूर्य्यं गतो भवतीत्यत एवास्य प्राणस्य पुरुषायुषत्वमाहुः । तथा च श्रूयते । "अ इति ब्रह्म । तत्रागतमहमिति । तद्वा इदं बृहतीसहस्रं संपन्नम् । तस्य वा एतस्य बृहतीसहस्रस्य संपन्नस्य षट्त्रिंशतमक्षराणां सहस्राणि भवन्ति । तावन्ति पुरुषायुषोऽह्नां सहस्राणि भवन्ति । जीवाक्षरेणैव जीवाहराप्नोति । जीवाह्ना जीवाक्षरम्" इति ( ऐ. आ. २।३।८ ) "प्राणो वा आयुः । प्राण उह्यमृतम् यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः" ( कौ० ब्रा० उ० ) इति च । अयमर्थः षट्त्रिंशत्सहस्राक्षरात्जीवात्मनोऽस्माद् विस्रस्तमेकैकमक्षरमहरहः स्वर्गं गच्छतीत्याधीयते । विरक्ते च तत्स्थाने सूर्य्योदयास्तपरिच्छिन्नमेकैकमहरात्मन्याधीयते । आहितानां तु नात्मत्वमुपपद्यते । प्रज्ञात्मनो भूतात्मनस्तत्रागन्तुकेषु संपरिष्वङ्गायोगात् प्रज्ञात्मना श्लिष्टेन शरीरेणैषामसंधानात्तदनभिमानात् । तस्माच्छतशतसंवत्सरान्ते सर्वेषामात्माक्षराणां विस्रंसनाच्छरीरमात्मना हीनं विपद्यते । विस्रस्तानि च सर्वाण्येवात्माक्षराणि शरीरादुत्थाय सूर्य्यं गतानि भवन्ति । सूर्य्यस्वरूपं विशुद्धं ब्रह्मविज्ञानमकारेण लक्ष्यते तत्र ह्यस्मतीति व्युत्पत्त्याऽयमध्यात्मं विज्ञानमयोऽक्षरव्यूह आत्मा "अह" मिति समाख्यायते । तदाह—"अ इति ब्रह्म । तत्रागतमहमितीति । अथखलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति । यो वै प्राणः सा प्रज्ञा । या वा प्रज्ञा

स प्राणः । स ह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्तिष्ठतः" इति कौषीतकि श्रुते-रिन्द्रप्राणव्युत्थानेन सहैवायं प्रज्ञात्मापि शरीराद् व्युत्थाय कर्मगतिं गतो भवति। पृथिवीगृहीताच्छरीरात संबन्धमुच्छिद्य लोकान्तरं गते प्रज्ञात्मनि विधर्त्रभावादिदं शरीरं पृथिव्याकृष्टं निपतति, पञ्चत्वं याति ।

( ३ ) प्राज्ञस्त्वयमात्माप्यक्षराणां संघातोऽमुस्मिन्निन्द्रप्राणो बृहतीसहस्राक्षरसंघातरूपे संपरिष्वज्यते । तत्र मनःप्राणवाचामैकात्म्येऽक्षरशब्दः। तं चाक्षरप्राणमाचक्षते । प्राज्ञेचायमक्षरप्राणः सप्तविधः संहत्यैकमात्मानमारभते मनो, वाक्, प्राणः, चक्षुः श्रोत्रं कर्माग्निरिति । प्रत्येकस्यैषामुक्थस्य षट् त्रिंशत-सहस्राण्यर्काः श्रूयन्ते वाजिश्रुतौ—तदिदं मनः सृष्टमाविरबुभूषत् निरुक्ततरं मूर्त्ततरम् तदात्मानमन्वैच्छत् । तत्तपोऽतप्यत तत् प्रामूर्छत् तत् षट्-त्रिंशतं सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान् मनोमयान्मनश्चितः । तद् यत् किञ्चेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः । एतावती वै मनसो विभूतिः । एतावती विसृष्टिः । एतावन्मनः षट्-त्रिंशत्सहस्राण्यग्नयोर्काः" ( १०।४।१ ) इति । एषैवानुविधा वाक् प्राणादिष्वपि तत्र श्रूयते । तथा च मनो वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमिति पञ्चधा विभक्तः प्राणः प्रज्ञात्मा । तैजसः प्राणः कर्म्मात्मा वैश्वानरः प्राणोऽग्न्यात्मा इतीत्थं त्रेधा विभक्तः सप्तधा विभक्तो वा भूतात्मा । तत्राग्निरयं द्वेधा—चित्यश्चितेनिधेयश्च लोमत्वगसृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रैश्चेतने,वल्कल-निर्य्यास-दारु-सार-रसैर्वृक्षे, किंशारु-तुषफलीकरणकिक्कस कंसारैर्यवधान्ये त्वग्रसगूढबालबीजमज्जाभिः फले, तथान्यत्रान्यैश्चयनीयैरवयवैश्चीयमानश्चित्यः तच्छरीरम्। तत्र दृष्टोऽयमूष्मावैश्वानरोश्चितेनिधेयः तदन्तर्गतो वयोऽवस्थानिर्वर्तकः प्राणः कर्म्मात्मा । तदन्तरर्गतः प्रज्ञात्मा । तत्र चित्येन चितेनिधेयेन चात्मनाऽऽत्मन्विनोऽसंज्ञा जीवा रत्नधातूपधातुरसोपरसादयः । ताभ्यां च तैजसेन चात्मन्विनोऽन्तः संज्ञा जीवास्तृणगुल्मौषधिवनस्पत्यादयः । तैश्च प्रज्ञात्मना चात्मन्विनः ससंज्ञा जीवाः कृमि-कीट-पक्षि-पशु-मनुष्यादयः ।

( ४ ) सोऽयं भूतात्मा यमन्यमात्मानमध्याश्रित्य पुरुषायुषमनुजीवन् शरीरेणसंवर्तते स बृहतीसहस्रात्मायमिन्द्रः प्राणः । "तद्वा इदं बृहतीसहस्र

संपन्नं तद्यशः स इन्द्रः स भूतानामधिपतिः" (ऐ० आ० २।३।७) इतिश्रुतेः। "स आयुः मामेव विजानीहि। एतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये यन्मां विजानीयात्। प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा। तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व" –इति कौषीतकि श्रुतौ प्रतर्दनं प्रतीन्द्रोक्तेः। तमन्वेवाध्याश्रिता इमे प्रज्ञादयो भूतात्मारम्भका भागाः सन्ति। "तस्य वा एतस्य बृहतीसहस्रस्य संपन्नस्य परस्तात् प्रज्ञामयो देवतामयो ब्रह्ममयोऽमृतमयः संभूय देवता अप्येति य एवं वेद" इति श्रुतेः (ऐ० आ० २।२।४)। तत्रैतस्मिन् प्रज्ञात्मनि विज्ञानात्मनो यावदधिकं संस्रवान् प्रतिष्ठा स्यात् तावदयं प्रज्ञात्मा तेनैव ब्रह्मणा विद्यया सर्वकषायदाहाद्विशुद्धिमागतः पाप्मभिर्विरहितो विज्ञानात्मरूपेणाभिनिष्पद्यते। स कर्मभिः कामैश्च विमुच्यते न स कर्मभोगाय लोकान् परिभ्रमति। तदेतत्सर्वं पश्यतां प्राचां महर्षीणां श्लोकानाह भगवानैतरेयः—

"यदक्षरं पञ्चविधं समेति, युजो युक्ता अभि यत् संवहन्ति।
सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्व एकं भवन्ति ॥१॥
यदक्षरादक्षरमेति युक्तं युजो युक्ता अभि यत् संवहन्ति।
सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्व एकं भवन्ति ॥२॥
यस्मिन्नामा समतृप्यन् श्रुतेधि तत्र देवाः सर्वयुजो भवन्ति।
तेन पाप्मानमपहत्य ब्रह्मणा स्वर्गलोकमप्येति विद्वान् ॥३॥" इति।

अयमर्थः। शरीररूपेण परिणतं पञ्चविधं भूतजातं वा इन्द्रियरूपेण परिणतं पञ्चविधं देवजातं वा यदक्षरं मुख्यप्राणमनुसमन्वेति। युञ्जानाः सन्तो युज्यमाना इमे रश्मिरूपाः सर्वप्राणा अपि अन्योन्यसंश्लिष्टा यदक्षरं मुख्यप्राणमभिसंवाहयन्ति। "अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति। प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्"—इति वाजिश्रुतेः शरीराधारभूतप्राणानामाधारभूतं मुख्यप्राणमनुलक्ष्य यत्र भागे सर्वैर्देवैर्युज्यते तत्रैतस्मिन् मुख्यप्राणभागे सर्वे देवा अविस्पष्टभेदत्वादेकत्वं यान्ति ॥ १ ॥

अपि च एतत्पञ्चविधं भूतजातं देवजातं वा एतस्मान्मुख्यप्राणादन्तरात् क्रमेणोपसृप्य यदन्यदन्तरं प्रज्ञात्मानं युक्तमभ्येति। रश्मयश्च प्राणा अन्योन्य-युक्ता यत् प्रज्ञानमभि संवहन्ति। सत्यस्य सत्यं मुख्यप्राणोऽपि यस्मिन् प्रज्ञानेऽनुयुज्यते तस्मिन् प्रज्ञाने सर्वे देवाः संहत्यैकत्वमायान्ति ॥ २ ॥ यद्यप्येवं विज्ञानात्मनि प्रज्ञानात्मनि चोभयत्रैव सर्वे देवा एकंभवन्ति तथापि यस्मि-न्नात्मनि श्रुते नामानि सर्वाणि स्त्रीत्वपुंस्त्वक्लीवत्वभेदितानि संतृप्यन्ते समर्थन्ते न व्यावर्तन्ते, तत्र स्त्रीपुंक्लीवेष्वविशेषरूपे विज्ञानात्मन्येव देवाः सर्वथा युक्ता द्रष्टव्याः। सर्वे देवा इन्द्रियरूपाः प्रज्ञात्मनि दृष्टा अपि मुख्यतया विज्ञानात्मन्येव प्रतिष्ठिताः सन्ति। प्रज्ञात्मारम्भकं तदन्तर्हितं विज्ञानात्मान-मेवाश्रित्य प्रज्ञेऽपि सर्वे देवाः संहन्यन्ते इत्यर्थः। विज्ञानस्यैव सूर्य्यरसस्य कश्चिदंशो भूगर्भमभिसन्नः पृथिव्यात्मभूतः पार्थिवमिदं प्राणिशरीर मभिसं-पद्यमानः पाप्मभिः शरीरधर्मैः कामशुक्रादिभिः संसृज्यते। ततः स प्रज्ञानात्मा नामोपपद्यते। तस्मिंश्च पृथ्वीरसात्मनि प्रज्ञाने सूर्य्यरसात्मनो विज्ञानस्यै तस्यातितरां समन्वयात् तेन ब्रह्मणा विज्ञानेन सर्वेषां पाप्मनां कामशुक्राद्यविद्या कषायाणामुच्छेदाद्विशुद्धविज्ञानात्मनाभिनिष्पत्तौ प्रज्ञात्मा स्वर्गं याति सूर्य्यं-नाम। स प्रज्ञानत्वाद्विमुच्यते। सूर्य्यरसरूपं विशुद्धं चिन्मयं मनोमयं विज्ञान-मकारेण लक्ष्यते इत्युक्तम्। तत्र हम्मतीति व्युत्पत्त्याऽयं प्रज्ञात्माऽप्यहमित्या-ख्यायते इतिबोध्यम्।

(५) एष च विज्ञानात्मा बृहतीसहस्राक्षरः सौरः प्राणोऽध्यात्मसप्यधि-दैवतवद् विश्वतः प्राणान् धत्ते। "तस्य प्राची दिक् प्राञ्चः प्राणाः दक्षिणा दिक् दक्षिणे प्राणाः। प्रतीची दिक् प्रत्यञ्चः प्राणाः। उदीची दिगुदञ्चः प्राणाः। ऊर्ध्वादिगूर्ध्वाः प्राणाः। अवाचीदिगवाञ्चः प्राणाः। सर्वादिशः सर्वे प्राणाः" (१४।६।११) इति वाजिश्रुतेः। विश्वतो हीमे प्राणा अस्मिन्नन्नमेदन्ते, मेद्यन्ति चामुष्मिन विश्वतोऽन्नानि तस्मादयं महाव्रताह्वः प्राणो विश्वामित्रो नामाख्यायते। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोऽधिशरीर-माविश्य विज्ञानमय आत्मासंपद्यते। धियो योनः प्रचोदयति। तमेतं प्राण-मनुवर्णयति कौषीतकिः। "एष ह्येवैतं साधुकर्म कारयति तं यमुन्निनीषति, एष एवैनमसाधुकर्म्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सते यमधो

तितीपति स म आत्मेति विद्यात्" (कौ० उ० ३) इति। हितं प्रियं च कर्म्म कर्तुं प्रवर्तयतीत्येष प्राणो विश्वेषांमित्रं तस्मात् विश्वामित्रः। "यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः" इति कौषीतकिश्रुतेरायुःस्वरूपं तमेव प्राणमाराधयितु मुभयोः सन्ध्ययोः सूर्य्यमुपतिष्ठन्ते ब्राह्मणाः सावित्रीं च गायत्रीं वैश्वामित्रीं ध्यायमानाः प्रजपन्ति। सहि गायन्तं त्रायते गयांश्च प्राणांस्त्रायते। आराधयन्तस्तत्संपत्त्या दीर्घायुषो भवन्ति। तथा च स्मर्य्यते— "ऋषयोदीर्घसंध्यात्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः" इति। येत्वेनामयथा कुर्वंत न ते फलेन संपद्यन्ते। तस्मात् सावहितोऽहरहः संध्यामुपासीतेति महतामादेशः। इत्थमयं विश्वामित्रः प्राणोऽधिदैवतमध्यात्मं च व्याख्यातः।

(६) अथ यः खलु विद्वानेतं विश्वामित्रप्राणमपश्यत्, प्राणस्य च तस्य यो विश्वामित्र इति नामधेय मकरोत् स तत्प्राणद्रष्टा विद्वानपि यशोनाम्ना विश्वामित्र एव आख्यायते। स च मनुष्यविधो विश्वामित्रो महोदयनाम्नि नगरे राजासीत्। यदिद कान्यकुब्जंनाम नगर मिदानीमुपलभ्यते, तत्र पुरा द्रुपदस्य राज्ञो द्रोणस्य वा ब्राह्मणस्य राजधान्यासीदहिच्छत्रा नाम। तत्रैवातिपुरातनकाले वैजयाख्यक्षत्रियवंश्यानां राज्ञामधिष्ठानं नगरमासीत्महोदयं नाम। तत्र विश्वरथो नाम राजासीच्चन्द्रवंशीयः। केचित्तु कौशाम्बींनाम नगरीमस्य राजधानीमाहुः। सहि विश्वरथः पुरूरवसमारभ्य विजयापरसंज्ञामायुशाखागोत्रे त्रयोदशो वा दशमो वा भवति। तात्कालिकस्य च वसिष्ठस्य ब्रह्मवीर्य्यानुगं महात्म्यं दृष्ट्वा ब्रह्मवीर्यात् क्षत्रवीर्य्यमल्पं मन्यमानः स तपस्तप्त्वा ब्राह्मणोऽभवत्। स विश्वरथो राजा विश्वामित्राख्य प्राणदर्शनप्रभावात् ब्रह्मत्वे विश्वामित्रोनाम्ना प्रथितोऽभूत्। "विश्वस्य ह वै मित्रं विश्वामित्र आस" (ब्रा० अ० २६) इत्येवमेतं प्रशंसत्यैतरेयः।

(७) स च पुरूरवसमारभ्यायुशाखागोत्रे चतुर्थस्य ययातेः समकाल आसीत्। गुरुर्दक्षिणां दित्सोः स्वशिष्यस्य गालवस्य विश्वामित्रेण ययातिं नाहुषं प्रति प्रेष्यमाणत्वात्। तच्च कालसाम्यं ययातिपूर्वपुरुषाणां दीर्घायुष्ट्वाद् विश्वामित्रपूर्वपुरुषाणामल्पाल्पायुष्ट्वाच्चोपपद्यते। इक्ष्वाकुवंशे हर्य्यश्ववसुमनस्त्रिधन्वस्वत्रय्यारुणसत्यव्रतहरिश्चन्द्ररोहिताश्वानां समानां पुरुषाणामिक्ष्वाकवः

पञ्चविंशादीनां समकालोऽयमेको विश्वामित्रः । कश्चिदन्यो भवेदन्यश्च कश्चिद् भवेद्रामसमसामयिकः । एकस्यातिदीर्घकालजीवित्वासंभवात् । मनुष्याणां शतायुष्ट्वसिद्धान्तात् । वसुमना हार्य्यश्विरयोध्यायां, प्रतर्दनो, दैवोदासिः काश्यां, शिविरौशीनरिर्भोजपुरे, अष्टको वैश्वामित्रिः कान्यकुब्जे, इत्येते चत्वारः सहोदराः ययातिकन्यायां माधव्यामुत्पन्ना विश्वामित्रेण समकाला आसन्निति पौराणिका आहुः ।

(८) एष च विश्वामित्र शब्दो न तत्प्राणद्रष्टृव्यक्तिमात्रे, नाऽपि तत्पुत्रपरम्परायामेव रूढः किन्तु वैश्वामित्र्यां ब्रह्मपर्षदि तत्पुत्रो वा तच्छिष्यो वा य एव कश्चित् काले काले पर्षदधिष्ठाता ब्रह्मासीत सोऽन्योऽन्यो विश्वामित्रः पर्षदधिष्ठातरि ब्रह्मणि विश्वामित्रशब्दप्रवृत्तेः । गोत्रे रूढः सोऽयं विश्वामित्रशब्दो जातिशब्दत्वात् वसिष्ठादिशब्दवदेकवचनान्तो बहुवचनान्तो वा प्रयुज्यते । तृतीयमण्डले त्रिपञ्चाशसूक्तस्य सप्तमीनवम्योर्ऋचोरेकवचनदर्शनात् प्रथमसूक्तस्यैकविंश्यामृचि बहुवचनदर्शनाच्च । तत्र बहुवचने सर्वासां व्यक्तीनां स्वशब्देनैवविश्वामित्रत्वं द्रष्टव्यम् । अप्रत्यक्षप्राणविशेषद्रष्टृत्वरूपस्य ऋषित्वस्य तच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य सर्वत्राविशेषात् । विश्वामित्र इत्यादौ अपत्यप्रत्ययलोपं वदन्तो वैयाकरणास्तु नाक्षेप्याः । व्याकरणप्रक्रियायाः शब्दरूपाभिज्ञानाभ्युपायमात्रत्वात् । नासूया कर्तव्या यत्रानुगमः क्रियते इति नैरुक्तत्वात् त इमे विश्वामित्राः कुशिका अप्युच्यन्ते । त्रिपञ्चाशसूक्तस्य नवमीदशम्योर्ऋचो विश्वमित्रगोत्रजाभिप्रायेणैव कुशिकशब्द प्रयोगात् । ऐतिहासिकमनुष्यगोत्राभिप्रायेण प्रयुक्तयोरेव कुशिक विश्वामित्रशब्दयोः पर्य्याय वाचित्वम् । न तु प्राणविशेषाभिप्रायेण प्रयुक्तयोः विश्वामित्र प्राणा पेक्षया कुशिकप्राणस्यातिरिक्तत्वात् । इन्द्रत्वसामान्याभिप्रायेण तूभयोरेकभाव्यं मन्यन्ते इति दिक् ।

(९) सर्व एवैते भिन्नभिन्नकाला विश्वामित्रा मन्त्रद्रष्टारः । तत्र हरिश्चन्द्रसामयिकस्यैवैते मधुच्छन्दः प्रभृतयः पुत्रा आसन् । देवरातस्य शुनःशेपपूर्वाख्यस्य मधुच्छन्दः प्रभृतिनोऽपि ज्येष्ठत्वेन पौराणिकैराख्यानात् । सर्वविश्वामित्रसाधारणो चेयं वैश्वामित्री संहिता द्रष्टव्या । विश्वामित्रगोत्रस्य च वसिष्ट

तितीर्षति स म आत्मेति विद्यात्" (कौ० उ० ३) इति। हितं प्रियं च कर्म्म कर्तुं प्रवर्तयतीत्येष प्राणो विश्वेषांमित्रं तस्मात् विश्वामित्रः। "यावद्धच-स्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः" इति कौषीतकिश्रुतेरायुःस्वरूपं तमेव प्राणमाराधयितु मुभयोः सन्ध्ययोः सूर्य्यमुपतिष्ठन्ते ब्राह्मणाः सावित्रीं च गायत्रीं वैश्वामित्रीं ध्यायमानाः प्रजपन्ति। सहि गायन्तं त्रायते गयांश्चप्राणां-स्त्रायते। आराधयन्तस्तत्संपत्त्या दीर्घायुषो भवन्ति। तथा च स्मर्य्यते— "ऋषयोदीर्घसंध्यात्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः" इति। येत्वेनामयथा कुर्वंत न ते फलेन संपद्यन्ते। तस्मान् सावहितोऽहरहः संध्यामुपासीतेति महतामादेशः। इत्थमयं विश्वामित्रः प्राणोऽधिदैवतमध्यात्मं च व्याख्यातः।

(६) अथ यः खलु विद्वानेतं विश्वामित्रप्राणमपश्यत्, प्राणस्य च तस्य यो विश्वामित्र इति नामधेय मकरोत् स तत्प्राणद्रष्टा विद्वानपि यशोनाम्ना विश्वामित्र एव आख्यायते। स च मनुष्यविधो विश्वामित्रो महोदयनाम्नि नगरे राजासीत्। यदिद कान्यकुब्जंनाम नगर मिदानीमुपलभ्यते, तत्र पुरा द्रुपदस्य राज्ञो द्रोणस्य वा ब्राह्मणस्य राजधान्यासीदहिच्छत्रा नाम। तत्रैवाति-पुरातनकाले वैजयाख्यक्षत्रियवंश्यानां राज्ञामधिष्ठानं नगरमासीत्महोदयं नाम। तत्र विश्वरथो नाम राजासीचन्द्रवंशीयः। केचित्तु कौशाम्बींनाम नगरीमस्य राजधानीमाहुः। सहि विश्वरथः पुरुरवसमारभ्य विजयापरसंज्ञामायुशाखागोत्रे त्रयोदशो वा दशमो वा भवति। तात्कालिकस्य च वसिष्ठस्य ब्रह्मवीर्य्यानुगं महात्म्यं दृष्ट्वा ब्रह्मवीर्यात् क्षत्रवीर्य्यमल्पं मन्यमानः स तपस्तप्त्वा ब्राह्मणो-ऽभवत्। स विश्वरथो राजा विश्वामित्राख्य प्राणदर्शनप्रभावात् ब्रह्मत्वे विश्वामित्रोनाम्ना प्रथितोऽभूत्। "विश्वस्य ह वै मित्रं विश्वामित्र आस" (ब्रा० अ० २६) इत्येवमेतं प्रशंसत्यैतरेयः।

(७) स च पुरूरवसमारभ्यायुशाखागोत्रे चतुर्थस्य ययातेः समकाल आसीत्। गुरुर्दक्षिणां दित्सोः स्वशिष्यस्य गालवस्य विश्वामित्रेण ययातिं नाहुषं प्रति प्रेष्यमाणत्वात्। तच्च कालसाम्यं ययातिपूर्वपुरुषाणां दीर्घायुष्ट्वाद विश्वामित्रपूर्वपुरुषाणामल्पाल्पायुष्ट्वाच्चोपपद्यते। इक्ष्वाकुवंशे हर्य्यश्ववसु-मनस्त्रिधन्वस्वत्रय्यारुणसत्यव्रतहरिश्चन्द्ररोहिताश्वानां सप्तानां पुरुषाणामिक्ष्वाकुवः

पञ्चविंशादीनां समकालोऽयमेको विश्वामित्रः। कश्चिदन्यो भवेदन्यश्च कश्चिद् भवेद्रामसमसामयिकः। एकस्यातिदीर्घकालजीवित्वासंभवात्। मनुष्याणां शतायुष्ट्वसिद्धान्तात्। वसुमना ह्यर्य्यश्विरयोध्यायां, प्रतर्दनो, दैवोदासिः काश्यां, शिविरौशीनरिर्भोजपुरे, अष्टको वैश्वामित्रिः कान्यकुब्जे, इत्येते चत्वारः सहोदराः ययातिकन्यायां माधव्यामुत्पन्ना विश्वामित्रेण समकाला आसन्निति पौराणिका आहुः।

(८) एष च विश्वामित्र शब्दो न तत्प्राणद्रष्टृव्यक्तिमात्रे, नाऽपि तत्पुत्रपरम्परायामेव रूढः किन्तु वैश्वामित्र्यां ब्रह्मपर्षदि तत्पुत्रो वा तच्छिष्यो वा य एव कश्चित् काले काले पर्षदधिष्ठाता ब्रह्मासीत् सोऽन्योऽन्यो विश्वामित्रः पर्षदधिष्ठातरि ब्रह्मणि विश्वामित्रशब्दप्रवृत्तेः। गोत्रे रूढः सोऽयं विश्वामित्रशब्दो जातिशब्दत्वान् वसिष्ठादिशब्दवदेकवचनान्तो बहुवचनान्तो वा प्रयुज्यते। तृतीयमण्डले त्रिपञ्चाशसूक्तस्य सप्तमीनवम्योॠचोरेकवचनदर्शनात् प्रथमसूक्तस्यैकविंश्यामृचि बहुवचनदर्शनाच्च। तत्र बहुवचने सर्वासां व्यक्तीनां स्वशब्देनैवविश्वामित्रत्वं द्रष्टव्यम्। अप्रत्यक्षप्राणविशेषद्रष्टृत्वरूपस्य ॠषित्वस्य तच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य सर्वत्राविशेषात्। विश्वामित्र इत्यादौ अपत्यप्रत्ययलोपं वदन्तो वैयाकरणास्तु नाक्षेप्याः। व्याकरणप्रक्रियायाः शब्दरूपाभिज्ञानाभ्युपायमात्रत्वात्। नासूया कर्तव्या यत्रानुगमः क्रियते इति नैरुक्तत्वात् त इमे विश्वामित्राः कुशिका अप्युच्यन्ते। त्रिपञ्चाशसूक्तस्य नवमीदशम्योॠचो विश्वमित्रगोत्रजाभिप्रायेणैव कुशिकशब्द प्रयोगात्। ऐतिहासिकमनुष्यगोत्राभिप्रायेण प्रयुक्तयोरेव कुशिक विश्वामित्रशब्दयोः पर्य्याय वाचित्वम्। न तु प्राणविशेषाभिप्रायेण प्रयुक्तयोः विश्वामित्र प्राणा पेक्षया कुशिकप्राणस्यातिरिक्तत्वात्। इन्द्रत्वसामान्याभिप्रायेण तूभयोरेकभाव्यं मन्यन्ते इति दिक्।

(९) सर्व एवैते भिन्नभिन्नकाला विश्वामित्रा मन्त्रद्रष्टारः। तत्र हरिश्चन्द्रसामयिकस्यैवैते मधुच्छन्दः प्रभृतयः पुत्रा आसन्। देवरातस्य शुनःशेपपूर्वाख्यस्य मधुच्छन्दः प्रभृतिनोऽपि ज्येष्ठत्वेन पौराणिकैराख्यानात्। सर्वविश्वामित्रसाधारणी चेयं वैश्वामित्री संहिता द्रष्टव्या। विश्वामित्रगोत्रस्य च वसिष्ट

गोत्रेण प्रतिपन्थितया वृत्तिरपि सर्वव्यक्तिसाधारण्यात स्मर्य्यते । तत्र विश्वामित्रस्य पितापितामहःप्रपितामहश्चेत्येकतस्त्रयः । विश्वामित्रः स्वयमेकः । विश्वामित्रस्याष्टौ पुत्राश्चत्वारः पौत्राः इत्येवं पञ्चदश व्यक्तयः स्मर्य्यन्ते । * तेषु प्रपितामह इषीरथस्तावदृषिर्नास्ति मन्त्रद्रष्टृत्वास्मरणात । पितामहः कुशिकः पिता गाथी मन्त्रद्रष्टृत्वाभावेऽपि नैपातिकावृषी संभाव्येते विश्वामित्रवंशस्य कौशिकगोत्रत्वेन लोके प्रतिपत्तेः । ऋष्यारब्धवंशस्यैव गोत्रत्वेनाख्यानात् । अथवा अनृषी एव स्याताम । विश्वामित्रस्य महर्षेः कौशिकशब्देन ग्रहणान् तत एवास्य गोत्रस्य कौशिकत्वसंभवात । यत्तु दाशतय्यां कुशिकगाथिनोरार्षेयं स्मर्य्यते तद्विश्वामित्रस्यैवार्षेयं द्रष्टव्यमिति केचिदाहुः । वस्तु तस्तु कुशिकगाथि-नावप्येतावृषी एव स्याताम् । ऋष्यन्तरवदेतयोरप्यार्षेयस्मरणात् । कौशिकगोत्रं तु कुशिकाद्वा विश्वामित्राद्वा प्रवर्ततामिति नातिविशेषः । एष च विश्वामित्रो मैथिल आसीत । मिथिलाप्रदेशे पूर्वस्यां कौशिकी नाम नदी वहति । तदुपलक्षिते एव प्रदेशे कुशिकाश्रमस्य निर्धारितत्वात् । तथाहि वृहद्विष्णुपुराणे मिथिलामहात्म्ये । "विश्वामित्रस्तु पूर्वस्यां दिशि वासमकल्पयत्" इत्युक्तम । यामलसारोद्धारे मिथिलाखण्डेचैवमाह । विश्वामित्राश्रमे प्राच्या-मृग्वेदध्वनिनादिते" इत्यादि । महाभारतस्यारण्यके च स्मर्यते । "कुशिक-स्याश्रमं गच्छेत् सर्वपापप्रमोचनम्" इति । अत एव च विश्वामित्रवंशजन्मा याज्ञवल्क्योऽप्यस्यां मिथिलायामेव गौतमाश्रम प्रत्यासन्नवर्तिनो जयन्तपुरस्या त्यन्तसंनिधाने धनुर्यज्ञमहारण्ये निवसतिस्म । अद्यापि तस्याश्रमस्य मिथिलायां सुप्रसिद्धत्वात इतिभाव्यम । विश्वामित्रो ह्येष शतर्ची महामहर्षिः । पुत्रेषु तु मधुच्छन्दो देवरातादयः केचन शतर्चिनः । परे महासूक्तक्षुद्रसूक्ताः । यद्यप्यस्य शतं पुत्राः स्मर्य्यन्ते पौराणिकैः । तेषु च पञ्चाशज्जघन्यजाः वनेचराः दस्यु-प्राया म्लेच्छा एवाभवन् परे तु ज्येष्ठा पञ्चाशदासन् ब्राह्मणाः विद्वांसः । किन्तु

---

* १—इषीरथः ( अनृषिः ),

२—कुशिक ऐषीरथिः,

३—गाथी ( गाधी ) कौशिकः,

४—विश्वामित्रो गाथिनः — इति ।

तेष्वप्यष्टावेव पुत्रा ऋषयः स्मर्य्यन्ते देवरातः, मधुच्छन्दाः, कतः, ऋषभः, रेणुः, अष्टकः, पूरणः, प्रजापतिः इति। अथ जेता अघमर्षणश्चेत्येतौ माधुच्छन्दसौ, उत्कीलः कात्य इति त्रयः पौत्राः।

(१०) अत्रायं देवरातः पूर्वमजीगर्तस्यानृषिब्राह्मणस्य त्रिषु पुत्रेष्वन्वतमः पुत्र आसीच्छुनःशेपो नामाङ्गिरसः। केचित्तु पौराणिका अजीगर्तशुनःशेपयोर्भार्गवत्वमाचक्षते तच्छ्रुतिविरोधादनुपादेयम्। "यथैवाङ्गिरसः सन्नुपेयां तव पुत्रताम्" "आङ्गिरसो जन्मनास्याजीगर्तः शुनः कविः" इतिच बह्वृचश्रुतेः। स हरिश्चन्द्रस्य राज्ञो वारुणे यज्ञे क्रीतः पुत्रोऽभूत्। तत्रायं विश्वामित्रेण पशुत्वात् प्रमोचितः सन्नमुष्य विश्वामित्रस्य पश्चात् कृत्रिमः पुत्रो भूत्वा विश्वामित्रकृपया पुत्रेषु ज्यैष्ठ्यं वेदं चालभत। तेनायमृषिः समुदभूद्देवरातो नाम। मधुच्छन्दास्तु विश्वामित्रस्यौरसो ज्येष्ठः पुत्रः।

(११) कुशिको द्वेधा-ऐषीरथिश्च सौभरिश्च। तेनायं विचिकित्सितः। एवं प्रजापतिस्त्रेधा-वैश्वामित्रो वाच्यः। परमेष्ठी च। प्रजापतेः पुत्रपौत्रप्रपौत्रवृद्धप्रपौत्राः स्मर्य्यन्ते। यथा-हिरण्यगर्भः। विष्णुः, यज्ञः, दक्षिणा, प्रजावान्, विमदः, यक्ष्मनाशनः, पतंगः संवरणः, इति नवैते प्राजापत्याः। मनुः सांवरणः। अथ नाभानेदिष्टः शार्य्यातो नाहुषश्चेति त्रयो मानवाः। ययातिर्नाहुषः इति। एष नावधार्य्यते कस्यैते हिरण्यगर्भादयः पुत्राः वैश्वामित्रस्य वा वाच्यस्य वा परमेष्ठिनो वेति। मनुरप्ययं नानाविधः स्मर्य्यते। तत्र न ज्ञायते कस्यैते नाभानेदिष्टादयः पुत्र पौत्रा इति, तन्मृग्यम्।

(१२) यद्यप्ययं विश्वामित्रो मनुष्यलोकस्थो न स्वर्ग्यः। तथाप्ययं विश्वामित्रकृतो वेदसंहिताग्रन्थः स्वर्ग्य एवाभिज्ञायते। तद्वर्णितानां मनुष्यदेवानां भौमस्वर्गवासितया प्राणदेवानां सूर्य्यस्वर्गवासितया च स्वर्ग्यार्थविषयकत्वात्।

(१३) तत्रैतस्यां कौशिकसंहितायां कुशिक ऐषीरथिरिन्द्रं द्वाविंशति (२२) मन्त्रैस्तुष्टाव। कुशिकपुत्रो गाथी दशभिरग्निं, पञ्चभिः पुरीष्यानग्नीन पञ्चभिरग्निसंबन्धिनो विश्वान् देवांस्तुष्टाव इति विंशति (२०) मन्त्रं गाथिन आर्षेयम्। तदिदं द्विचत्वारिंशता पौर्विकं पर्व प्रथमम्।

(१४) अथ गाथिपुत्रो विश्वामित्रस्त्रिंशेन शतेनाग्निसामान्यमेकादश-

भिराप्रियमूनत्रिंशता वैश्वानराग्निं, षड्भिर्मरुदादीन्, नवभिरिन्द्राग्नी, एकादशभिरग्निसंबन्धिनो विश्वान्देवांस्तुष्टावेति षण्णवत्यधिकशतेन ( १९६ ) आग्नेयं पर्व द्वितीयम्। ऊनविंशेन शतेन ( ११९ ) ऐन्द्रं पर्व तृतीयम्। अथ षड्भिर्विश्वान्देवान्, नवभिरश्विनौ, नवभिर्मित्रं, सप्तभिर्ऋभून्, सप्तभिरुषसमथ त्रिभिस्त्रिभिरिन्द्रावरुणौ बृहस्पतिं पूषणं सवितारं सोमं मित्रावरुणौ, ततश्चतुर्भिरिन्द्रसोमवरुणबृहस्पतिधातृविधातृसंघं, त्रिभिः पवमानं सोमं तुष्टावेति त्रिषष्ट्या ( ६३ ) वैश्वदेव्यं पर्व चतुर्थम्। इत्थं त्रिभिः पर्वभिरष्टसप्ततानि त्रीणि शतानि ( ३७८ ) वैश्वामित्रार्षेयं भवति।

( १५ ) अथ विश्वामित्रपुत्रो देवरातो विश्वामित्रपुत्रत्वात् प्रागजीगर्तपुत्रत्वे शुनःशेपनामा द्वाभ्यामग्निं त्रिभिर्भगसवितारौ दशभिर्वरुणं तुष्टावेति पञ्चदशभिः शौनःशेपार्षेयं वृतम्। देवरातो भूत्वा एकविंशत्या वरुणं, त्रयोविंशत्याग्निं, नवभिरिन्द्रयज्ञसोमानां निवहं, त्रयोविंशत्येन्द्रं, त्रिभिरश्विनौ, त्रिभिरुषसं तुष्टावेति द्व्यशीत्या देवरातार्षेयं वृत्तम्। तदित्थं सप्तनवत्या ( ९७ ) दैवरातं पर्व पञ्चमम।

( १६ ) अथ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रो नवभिरग्निं, द्वासप्तत्या मरुत्वन्तमिन्द्रं, ततस्त्रिभिस्त्रिभिर्वायुमिन्द्रवायू मित्रावरुणौ अश्विनौ इन्द्रं विश्वान् देवान् सरस्वतीं चेत्येकविंशत्या वैश्वदेव्यं, दशभिः पवमानं सोमं तुष्टावेति-द्वादशं शतं ( ११२ ) माधुच्छन्दसमार्षेयं पर्व षष्ठम्।

( १७ ) अथ ऋषभो वैश्वामित्रश्चतुर्दशभिरग्निं, नवभिः पवमानं सोमं तुष्टाव रेणुर्वैश्वामित्रोऽष्टादशभिरिन्द्रमिन्द्रासोमौ च दशभिः पवमानं सोमं तुष्टाव। कतो वैश्वामित्रः पञ्चभिरग्निमष्टको वैश्वामित्र एकादशभिरिन्द्रं, पूरणो वैश्वामित्रः पञ्चभिरिन्द्रं, प्रजापतिर्वैश्वामित्रो दशभिरिन्द्रं द्वापञ्चाशता विश्वान् देवाँस्तुष्टावेति त्रिचत्वारिंशेनशतत्रयेण ( ३४३ ) पुत्रार्षेयम्।

( १८ ) अथ जेता माधुच्छन्दसोऽष्टादशभिरिन्द्रमघमर्षणो माधुच्छन्दसस्त्रिभिर्भाववृत्तमुत्कीलः कात्योऽष्टदशभिरग्निं संवरणः प्राजापत्य ऊनविंशत्या इन्द्रं तुष्टावेत्यष्टचत्वारिंशता ( ४८ ) पौत्रार्षेयम्।

अथ देवश्रवा देवताश्च भारतौ राजानाविन्द्रं पञ्चभिस्तुष्टुवतुरिति नैपातिकार्षेयम्। इति सप्ताशीतिशतेनेन ( १८७ ) उत्तमं पर्व सप्तमम्।

तदित्थं पाञ्चपौरुषी, षोडशार्षेयी सप्तपर्वा षोडशाधिकाष्टशतमन्त्रा (८१६) कौशिकी वेदसंहिता पूर्णा ।

( १६ ) कौशिकसंहिताया सोऽयं मन्त्रविभागः प्रकोष्ठे द्रष्टव्यः—

| पुरुषाः | आर्षेयाणि | ऋषयः | | आर्षेयमन्त्राः | | पर्वाणि ७ |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | कुशिक ऐषीरथिः | | २२ | | |
| २ | २ | गाथी कौशिकः | | २० | ४२ | ४२ |
| ३ | ३ | वैश्वामित्रो गाथिनः | | ३७८ | ३७८ | { १६६ ११६ ६३ |
| ४ | ४ | देवरातो वैश्वामित्रः | | ६७ | ३४३ | ६७ |
| | ५ | मधुच्छन्दाः ,, | | ११२ | | १२ |
| | ६ | ऋषभः ,, | | २३ | | |
| | ७ | रेणुः ,, | | २८ | | |
| | ८ | कतः ,, | | ५ | | |
| | ९ | अष्टकः ,, | | ११ | | |
| | १० | पूरणः ,, | | ५ | | |
| | ११ | प्रजापतिः ,, | | ६२ | | १८७ |
| ५ | १२ | जेता माधुच्छन्दसः | | ८ | ४८ | |
| | १३ | अघमर्षणो माधुच्छन्दसः | | ३ | | |
| | १४ | उत्कीलः कात्यः | | १८ | | |
| | १५ | संवरणः प्राजापत्यः | | १९ | | |
| (×) | १६ | देवाश्रवोदेववातौ भारतौ | | ५ | ५ | |
| ५ | १६ | | | ८१६ | ८१६ | ८१६ |

सोऽयमैतिहासिको वैज्ञानिकश्च द्विविधोऽपि विश्वामित्रो व्याख्यातः

इति कौशिको विश्वामित्रः ।

समीक्षाचक्रवर्ति—श्रीमधुसूदनशर्म—विरचितं महर्षिकुलवैभवं समाप्तम् ॥

# महर्षिकुलवैभवस्य

## —: शुद्धि-पत्रम् :—

| पृष्ठः | पंक्तिः | अशुद्धपाठाः | शुद्धपाठाः |
|---|---|---|---|
| | | **कश्यपः—** | |
| १ | ८ | पुत्र: | पुत्रः |
| २ | कूर्ममध्ये | घृत्तम् | घृतम् |
| २ | कूर्मकटौ | कश्यय: | कश्यपः |
| ३ | ६ | तल्लक्षण | तल्लक्षणं |
| ३ | ७ | उद्यन्नेवाभू | उद्यन्नेवामू |
| ३ | १५ | तयोरुर्ध्वा | तयोरूर्ध्वा |
| ३ | १८ | विन्दूपलब्ध | बिन्दूपलब्ध |
| ४ | ५ | कूर्म्मो | कूर्म्मे |
| ४ | ८ | द्रष्टार | द्रष्टारं |
| ४ | ११ | शब्दपरतन्त्र | शब्दपरतन्त्रं |
| ४ | १३ | दृष्मते | दृश्यते |
| ५ | ५ | पृथ्वीस्थान | पृथ्वीस्थाना |
| ५ | ८ | अवस्थित | अवस्थिता |
| ५ | १० | श्र यते | श्रूयते |
| ५ | १४ | मृडत नः | मृडता नः |
| ७ | ६ | नार्य्य स | नार्य्यसि |
| ८ | ५ | अदितिमध्य | अदितिमध्यं |

| पृष्ठः | पंक्तिः | अशुद्धपाठाः | शुद्धपाठाः |
|---|---|---|---|
| ८ | २४ | दधिमच्य: | दधिमच्य: |
| १० | १३ | इत्थमय | इत्थमयं |
| १० | २३ | गत्या | भक्त्या |
| ११ | १ | प्रदेश | प्रदेशे |
| ११ | २३ | पञ्चसूनुदशभिरिन्द्रं | पञ्चदशभिरिन्द्रं |
| ११ | २३ | रेम काश्यपौ | रेमतुः काश्यपौ |
| | | **वसिष्ठः—** | |
| १३ | १८ | वगस्थितोऽयं | स्वर्गस्थितोऽयं |
| १४ | टिप्पण्ये | जुहवानाः | जुह्वानाः |
| १५ | २ | रथ्येवेय | रथ्येवेयं |
| १५ | ३ | तत्रासात् | तत्रासीत् |
| १५ | ४ | महाराजस्याय | महाराजस्यायं |
| १६ | २ | द्प्सं | द्रप्सं |
| १६ | ५ | ब्रह्यणा | ब्रह्मणा |
| १७ | ५ | असलक्षण | असलक्षणा |
| १६ | ३ | वभूवुः | बभूवुः |
| १६ | १७ | कपोश्चित् | कयोश्चित् |
| १६ | २५ | सेत्रोध्यस्य | संत्रोध्यस्य |
| २० | २ | मन्त्रसंहता | मन्त्रसंहिता |
| २० | ४ | तादित्थं | तदित्थं |
| २० | ४ | जन्मकम | जन्मकर्म |
| २० | १६ | तस्या | तस्यां |
| २० | १७ | सेक न्मत्र | सेकान्मित्र |
| २१ | २३ | ब्रह्यत्वात् | ब्रह्मत्वात् |
| २२ | ४ | एनद्वयतिरिका | एतद्व्यतिरिक्ता |

| पृष्ठः | पंक्तिः | अशुद्धपाठाः | शुद्धपाठाः |
|---|---|---|---|
| २२ | १७ | वसुकर्णो | वसुकर्णो |
| २३ | १२ | रूत्तर | रुत्तर |
| २३ | १३ | त्रवस्त्रिशन्मन्त्रान् | त्रयस्त्रिंशन्मन्त्रान् |
| | | **अगस्त्यः—** | |
| २५ | २ | नास्त्यम:स्या | गस्त्यमत्स्या |
| २५ | १० | भाहिस्थिना | माहिदिथना |
| २५ | १३ | भाग्नेया | माग्नेया |
| २५ | १४ | त्रिविधा | त्रिविधाः |
| २६ | ६ | परिपाकान् | परिपाकात् |
| २६ | ६ | फेनोनऽसिकता | फेनोषःसिकता |
| २६ | ७ | स्वाभावा | स्वभावा |
| २६ | ११ | प्केनोष्र | प्फेनोषः |
| २७ | १३ | जालत्वा | जालकत्वा |
| २७ | १६ | नोंन्नमच्छृङ्गः | नोंन्नमच्छृङ्गः |
| २७ | २० | तदिद्मगस्त्य | तदिदमगस्त्यस्य |
| २७ | २३ | निक्षिप्यन्ते | निःक्षिप्यन्ते |
| २७ | २४ | परोक्ष्ववहार | परोक्षव्यहारः |
| २७ | २५ | पुराणैकत्रष्ठि | पुराणैकषष्ठि |
| २७ | २५ | गस्त्यरवाग्नि | गस्त्यस्याग्नि |
| २८ | ३ | पुरातनया | पुरातनतया |
| २८ | १३ | भगिनेयाश्चेति | भागिनेयाश्चेति |
| २८ | १४ | नाप्रिय | नाप्रियं |
| २८ | १६ | पचभिः | पंचभिः |
| २८ | २३ | षड्भिर्विश्वाद् | षड्भिर्विश्वान्देवान् |
| | | जींविताहवानं | जींविताह्वानं |

| पृष्ठः | पंक्तिः | अशुद्धपाठाः | शुद्धपाठाः |
|---|---|---|---|
| ३० | २ | सहिता | संहिता |
| ३० | १३ | दुत्कामकः | दुत्क्रामुकः |
| | | **भृगुः अङ्गिराः—** | |
| ३२ | ३ | यावद्भिन्न | यावदभिन्नं |
| ३२ | १०–११ | विधारूषो | त्रिश्वापुरुषो |
| ३२ | १३ | मुकथं | मुक्थं |
| ३२ | १५ | प्राणमयः | प्राणमयो |
| ३३ | २० | तयारेद्धातमां | तयोरद्धातपां |
| ३४ | १८ | अशनंग्रहणा | अशनग्रहण |
| ३४ | २० | मात्मान | मात्मानं |
| ३४ | २५ | १-- विष्ठान | १—विष्ठानं |
| ३५ | ३ | मुक्थस्याक | मुक्थस्यार्क |
| ३५ | ६ | उतिष्ठम् | उत्तिष्ठन् |
| ३५ | १६ | कद्र | कद्रू |
| ३६ | १० | एव | एवं |
| ३६ | २४ | सामन्त | सामन्तं |
| ४२ | १७ | आसंभूतैः | श्रीसंभूतैः |
| ४३ | १ | नैत्तिरीय | तैत्तिरीय |
| ४५ | ७ | मन्त्रश्रतेः | मन्त्रश्रुते |
| ४५ | २२ | मर्भिणी | गर्भिणी |
| ४६ | १८ | ससज्ञाना | ससंज्ञाना |
| ४६ | २६ | इत्यैतुरेय | इत्यैतरेय |
| ४६ | २६ | श्रतेः | श्रुतेः |
| ४६ | २२ | वाजिश्र | वाजिश्रु |
| ५० | १ | गौविराट् | गौर्विराट् |

| पृष्ठः | पंक्तिः | अशुद्धपाठाः | शुद्धपाठाः |
|---|---|---|---|
| ५१ | २५ | यट्विरात्र | यत्र |
| ५१ | २५ | संहन्यते सा | संह्नयते सा विराट् |
| ५२ | १७ | आन्नं | अन्नं |
| ५२ | १६ | अनिधानी | अभिधानी |
| ५३ | १ | योऽग्निरादित्य | यमोऽग्निरादित्य |
| ५३ | ३ | चतुस्त्रः | चतुस्त्रः |
| ५३ | १३ | यागेव | वागेव |
| ५५ | १६ | परतोऽनुयाजाः | परतोऽनुयाजा |
| ५६ | १५ | प्रतिरुध्मः | प्रतिरुन्ध्मः |
| ५६ | १५ | तस्यप च | तस्यापि च |
| ५६ | १७ | विवक्षितत्वागतेः | विवक्षितत्वावगतेः |
| ५६ | २४ | श्रतौमन्त्रः | श्रुतौ मन्त्रः |
| ५७ | ६ | दविनामाव | दविनाभावं |
| ५७ | ७ | एतद्वै ब्रह्मः | एतद्वै ब्रह्म |
| ५७ | १२ | अथर्वाणां | अथर्वणां |
| ५७ | २३ | यज्ञस्यावराध्यां | यज्ञस्यापराध्यों |
| ५८ | ७ | संगृण्हाति | संगृह्णाति |
| ५८ | २२ | श्रतं | श्रुतं |
| ५९ | २ | सोम | सोमा |
| ५९ | २ | यतमं नः | यातमनः |
| ५९ | १६ | संन्निविष्टेषु | सन्निविष्ठेपु |
| ५९ | २४ | ब्रह्मगिरित्व | ब्रह्मगिरित्व |
| ५९ | २५ | दास्मि | दस्मि |
| ६० | १२ | षिण्डं | पिण्डं |
| ६० | १८ | सर्वं | सर्व |
| ६१ | ३ | असंघं | असंघ |
| ६१ | ११ | धमा : | धर्माः |

| पृष्ठः | पंक्तिः | अशुद्धपाठाः | शुद्धपाठाः |
|---|---|---|---|
| ६१ | १६ | विद्यायां | विद्याया |
| ६१ | १६ | नुह्य | नुदुह्य |
| ६१ | २० | ( ५।०।७ ) | ( ५।२।७ ) |
| ६२ | ७ | सौषधिर्वनस्पति | सौषधिर्वनस्पति |
| ६२ | २१ | इतम् | या |
| ६३ | १ | ददित्थं | तदित्थं |
| ६४ | १ | द्र्ष्टव्व्या | द्र्ष्टव्या |
| ६४ | १ | मेवासता | मेवास |
| ६४ | ६ | तदन्तरिक्ष | अन्तरिक्ष |
| ६४ | ६ | साऽसौर्द्यौ | द्यौ |
| ६४ | १० | सहस्त्रायुर्जज्ञे | सहस्रायुर्जज्ञे |
| ६४ | १४ | इमामेव | इमामेव |
| ६४ | १७ | इमे | इमं |
| ६४ | २० | सहश्रायुषो | सहस्त्रायुषो |
| ६४ | २१ | मपश्यद्यं | मपश्यद्य |
| ६४ | २२ | आपोइवा | आपोवा |
| ६४ | २२ | तांयत् | तायत् |
| ६५ | ६ | निरवासयत् | निरवासाययत् |
| ६५ | २२ | मन्वाख्याने | मन्वाख्या |
| ६५ | २३ | ऋचाम्यनूक्तम् | ऋचाम्यनूक्तम् |
| ६५ | २४ | नाहर्न | नर्हन |
| ६५ | २४ | नांच | नींच |
| ६६ | १२ | आदि इति | आदित्यः इति |
| ६६ | १३ | तैत्तरीयके | तैत्तिरीयके |
| ६६ | २५ | दिगदृष्टाः | दिग्दृष्टाः |
| ६७ | ६ | वायादित्या | वाय्वादित्या |
| ६७ | १० | दिवाः | देवाः |

| पृष्ठः | पंक्तिः | अशुद्ध पाठाः | शुद्धपाठाः |
|---|---|---|---|
| ६७ | १२ | त्रिधातुपूर्वं | स्त्रिधातुपूर्वं |
| ६७ | १८ | स्वरुपा | स्वरूपा |
| ६७ | १८ | पूर्वत्वे | पूर्वत्वं |
| ६७ | २१ | आग्निषोमौ | अग्निषोमौ |
| ६७ | २२ | ब्रह्मात्मकत्वे | ब्रह्मात्मकत्वे |
| ६७ | २५ | ( ६। ) | ( ६ कां ) |
| ६८ | १ | आभ्योऽद्धयो | आभ्योऽद्भ्यो |
| ६८ | ३ | भस्ताख्यं | भस्त्याख्यं |
| ६८ | ११ | संक्लिप्याप्सु | संक्लिश्याप्सु |
| ६८ | १५ | मश्सान | मश्मान |
| ६८ | २१ | ददुपरिष्टात | तदुपरिष्टात् |
| ६९ | ६ | चतुष्टये | चतुष्टयं |
| ६९ | ११ | ब्राह्मणस्पत्यो | ब्रह्मणस्पत्यो |
| ६९ | १२ | इष्टास्वभवन् | इहास्वभवन् |
| ६९ | १५ | वय्वादित्याना | वाय्वादित्याना |
| ६९ | १५ | मान्द्त्रय | मान्द्त्रया |
| ६९ | २२ | विद्यु त्सोमयोभेदेन | विद्यु त्सोमयोर्भेदेन |
| ६९ | २२ | सोमविशे | सोमविशे |
| ६९ | २६ | श्रयते | श्रूयते |
| ६९ | २६ | श्र | श्रुतौ |
| ७० | ७ | दिक् छन्द: | दिक् छन्द: |
| ७० | २१ | रूद्रै | रुद्रै |
| ७० | २५ | देवा | देवता |
| ७१ | १ | प्राण: | प्राणा: |
| ७१ | १ | सर्बपितर: | सर्वेपितर: |
| ७१ | ८ | प्रतिप्रजापत्य | प्रतिप्राजापत्य |
| ७१ | ६ | द्वितीय मात्मा | द्वितीय आत्मा |

| पृष्ठः | पंक्तिः | अशुद्ध पाठाः | शुद्ध पाठाः |
|---|---|---|---|
| ७१ | १० | पृथीव्यौ | पृथिव्यौ |
| ७१ | १३ | सृष्टे प्रवृष्टे | सृष्टं प्रवृष्टं |
| ७१ | २० | भवतीत्यस्तत्र | भवतीत्यतस्तत्र |
| ७१ | २७ | वरेणां | वरगां |
| ७१ | २७ | इत्यात्तक्षते | इत्याचक्षते |
| ७२ | १३ | सचारी | संचारी |
| ७२ | २१ | भामभिमुखी | भामाभिमुखी |
| ७३ | ११ | ऽङ्गिरश्चाचष्टे | ऽङ्गिरसश्चाचष्टे |
| ७३ | १५ | भेषजैः | भेषजै |
| ७३ | १७ | ऋग्वेद | ऋग्विद |
| ७५ | ७ | त्रिश्वरूगो | त्रिस्वरूगो |
| ७५ | १० | पारीद्‌यात् | पारोद्‌यात् |
| ७६ | ८ | मङ्गिरस | मङ्गिरस्त |
| ७६ | ९ | नानाथान् | नानार्थान् |
| ७६ | १३ | सीसा | सीमा |
| ७७ | ८ | रूष स | रुषसि |
| ७८ | ४ | सवम् | सर्वम् |
| ७८ | १२ | कृत्तिकान्तः | कृतिकातः |
| ७८ | १६ | प्रजाषतेःर्वा | प्रजापतेर्वा |
| ७८ | १७ | अग्निरारास्यम् | अग्निरास्यम् |
| ७८ | १८ | शीर्षत् | शीर्षन् |
| ७८ | २२ | छिन्नशीर्पा | छिन्नशीर्षा |
| ७९ | ८ | रोचनाना | रोचनानां |
| ७९ | २६ | सहैकी | सहैकी |
| | | **अत्रिः** | |
| ८२ | ४ | सृष्टिद्वदशे | सृष्टिद्वादशे |
| ८३ | १ | स्वेनाजसाऽऽवृतः | स्वेनौजसाऽऽवृतः |

| पृष्ठः | पंक्तिः | अशुद्धपाठाः | शुद्धपाठाः |
|---|---|---|---|
| ८३ | ६ | देशाविशेपस्यत्रियत्वे | देशविशेषस्यात्रे यत्वे |
| ८४ | १६ | स्थान्न | स्यान्न |
| ८५ | ११ | योगत्वात् | योग्यत्वात् |
| ८५ | २२ | प्रम्हग्ग | ब्रह्मण |
| ८६ | १० | भवाङ्ग | मत्राङ् |
| ८६ | २४ | प्रच्चरित | प्रचरित |
| ८६ | २६ | तेष्वात्रे यर्षद | तेष्वात्रे पर्षद |
| ८७ | ६ | देवान्नगमोप | देवान्नमसोप |
| ८७ | २५ | लोकः | लोक |
| ८८ | २६ | सूर्य मवाहन् | सूर्यमवाहन् |
| ८६ | ३ | द्विहीयेत | द्विहीयते |
| ८६ | १५ | अत्रोऽत्रिमूतौ | अतोऽत्रिमूतौ |
| ६२ | ३ | तत्तगोत्रान्वये | दत्तगोत्रान्वये |
| ६३ | ११ | सवंदा | सर्वदा |
| ६४ | १५ | ब्रह्मावती | ब्रह्मावर्ती |
| ६५ | १२ | आपोऽभूवन् | आपोभवन् |
| ६५ | २३ | मेकेश्वरो | मेकेश्वरा |
| ६६ | १६ | पम्रात | पंपात |
| ६७ | २ | ज्वलयंन्त्युत | ज्वलयंत्युत |
| ६७ | ८ | पुत्रोऽभूदिति | पुत्रोभूदिति |
| ६८ | ४ | गन्व | गन्धर्व |
| ६८ | १३ | प्रकारणे | प्रकरणे |
| ६८ | २४ | ग्राणा | प्राणा |
| ६६ | १ | वाजंसनेय | वाजसनेय |
| १०१ | ११ | सलग्न | सलग्नं |
| १०१ | १६ | रल्कोऽर्थो | रक्तोऽर्थो |
| १०२ | १ | पञ्चा | पश्चा |

| पृष्ठः | पंक्तिः | अशुद्ध पाठाः | शुद्ध पाठाः |
|---|---|---|---|
| १०२ | ७ | वर्हिर्घानो | वहिर्धानो |
| १०२ | ६ | चात्रिवशे | चात्रिवंशे |
| १०३ | ८ | इत्युभया: | इत्युभयो: |
| १०५ | २ | कमकृत् | कर्मकृत् |
| १०७ | १० | एवमन्यात्रा | एवमन्यत्रा |
| १०७ | २१ | प्राणावनो | प्राणघनो |
| १०८ | १८ | सर्वै: | सर्वे: |
| १०८ | १६ | तमेवैकं | तमेवैके |
| १०६ | १८ | मूति: | मूर्ति: |
| ११० | ५ | मर्त्याच | मर्त्याच |
| ११० | ६ | प्रशिद्धायां | प्रसिद्धायां |
| ११० | १६ | सूर्यं शु | सूर्यां शु |
| ११० | २१ | साऽत्रि: | सोऽत्रि: |
| ११७ | ६ | वनपर्वान्तरर्गत | वनपर्वान्तर्गत |
| | | **कौशिको विश्वामित्रः** | |
| १२२ | ८ | नान्यस्मिन् | तान्यस्मिन् |
| १२४ | ८ | प्राणाण | प्राण |
| १२४ | २१ | च्छशत | च्छत |
| १२५ | ५ | संघातोमुस्मिन्निन्द्रप्राणो | संघातेमुष्मिन्निद्रप्राणे |
| १२६ | १३ | एकंभदन्ति | एकीभवान्ति |
| १२७ | १३ | पृथीरसात्मनि | पृथ्वीरसात्मनि |
| १२७ | १७ | व्युत्पत्त्याऽय | व्युत्पत्याऽयं |
| १२७ | २० | प्रतीवी | प्रतीची |
| १२८ | १३ | यदिद | यदिदं |
| १२८ | १७ | पुरस्व | पुरूरव |
| १२८ | २५ | दीर्घायुष्टवाद | दीर्घायुष्ट्वाद् |
| १२८ | २७ | मिक्ष्वाकत: | मिक्ष्वाकुत: |
| १३० | १ | वृत्तिरपि | वृत्तिरपि |
| १३० | २१ | धुच्छन्दो | मधुच्छन्दो |
| १३० | २२ | सतं | शतं |
| १३० | २० | देवाश्रवो | देवश्रवो |

|| इति ||

प्रकाशक

सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के आदेशानुसार

**श्री गोपालनारायण बहुरा, एम. ए.,**

उप सञ्चालक राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

मुद्रक

ज्ञानप्रकाश काला, कुशल प्रिन्टर्स, मणिहारों का रास्ता, जयपुर